श्रीहरिः

भगवत प्राप्ति सहज है

स्वामी रामसुखदास

Swami Ramsukhdass
Bhagavadprapti
sahaj hai.

श्री हरिः

भगवत्प्राप्ति सहज है

Bhagvatprapti Sahaj hai

Swami Ramshukh Das.

स्वामी रामसुखदास

श्री हरिः

नम्र निवेदन

परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज अत्यन्त सरल बोलचाल की भाषा—शैली में प्रवचन दिया करते हैं उनमेंसे कुछ प्रवचन लिपि बद्ध करके पुस्तक रूपमें प्रकाशित किये जा रहे हैं। भगवत्प्राप्ति का उदेश्य रखने वाले साधकोंसे नम्र निवेदन है कि भगवत्-तत्त्व को भलिभाँति हृदयंगम करने के लिये प्रस्तुत पुस्तक का गहराई से अध्ययन करें। इससे उन्हें अपने साधन-पथमें अद्भुत लाभ हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रकाशक

।। श्री हरिः ।।

विषय–सूची

क्र०सं		पष्ठ न०
१.	मुक्ति सहज है	१
२.	भगवानसे सम्बन्ध	८
३.	अविनाशी बीज	३१
४.	सब में भगवद्दर्शन	३६
५.	गृहस्थमें लोक-परलोक का सुधार	४४
६.	मनुष्यकी मूर्खता	५३
७.	बेईमानी का त्याग	५९
८.	मनुष्य जन्म ही अन्तिम जन्म है	६६
९.	'है' (परमात्म तत्त्व) की ओर दृष्टि रखें	७३
१०.	साधन विषयक दो दृष्टियाँ	७८
११.	दूसरों के हितका भाव	८६
१२.	छूटने वाले को ही छोड़ना है	९२
१३.	स्वाभाविकता क्या है ?	९८
१४.	विनाशी का आकर्षण कैसे मिटे ?	१०९
१५.	कर्म अपने लिये नहीं	११८
१६.	कर्म, सेवा और पूजा	१२७

श्री हरि :

मुक्ति सहज है

१६–४–८३.

भीनासर धोरा
बीकानेर.

देखो, वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—ये तीन चीजें दीखने में आती है। इनमें वस्तु और क्रिया—ये दोनों प्रकृति हैं, और व्यक्ति रूप में जो दीखता है, यह शरीर भी प्रकृति ही है; परन्तु इसके भीतर में जो न बदलने वाला है, यह परमात्मा का अंश है। अब अगर 'यह' वस्तु, क्रिया और व्यक्ति में नहीं उलझे, तो यह स्वाभाविक ही मुक्त है; क्योंकि 'यह' परमात्मा का साक्षात अंश है। इसके लिए कहा है—**चेतन अमल सहज सुख रासी**—यह चेतन है, शुद्ध है मलरहित है और सहज सुखराशि है, महान् आनन्द राशी है। यह महान् आनन्द राशी अपने स्वरूप की तरफ ध्यान न देकर के संसार के सम्बन्ध से सुख चाहने लग गया। इससे यही भूल हुई है। यह संयोग जन्य सुख में फँस गया। जैसे, धन मिले तो सुख हो, भोजन मिले तो सुख हो, भोग मिले तो सुख हो, कपड़ा, वस्तु, आदर, मान, सत्कार मिले तो सुख हो। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वयं नित्य निरन्तर रहने वाला है 'सहज सुख रासी' स्वाभाविक ही सुख राशि है; परन्तु इसमें यह वहम पड़ गया है कि संसार के पदार्थ मिलने से सुख होगा। यह बिछुड़ेगा जरूर ही संयोगा विप्रयोगान्ताः जितने संयोग होते है उनका अन्त में वियोग होता है तो सम्बन्ध से होने वाला सुख रहेगा कैसे ? मनुष्य

यह विचार नहीं करता है कि आज दिन तक संयोग से जितने सुख लिये थे वे आज नहीं रहे। संयोग से होने वाले सुख का नमूना तो देख ही लिया; लेकिन अब भी चेत नहीं करते फिर और चाहते हैं कि संयोग से सुख ले लें।

जब तक बाहर के संयोग से संसार के सम्बन्ध से सुख लेगा, तब तक इसको वास्तविक सुख नहीं मिलेगा '**बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा**' बाह्य सुख (संयोग जन्य सुख) में आसक्त नहीं होगा तो 'विन्द त्यात्मनि यत्सुखम्' उस विलक्षण सुख को आप से आप प्राप्त हो जायगा। संसार के सम्बन्ध से सुख लेने से इसका वास्तविक सुख गुम हो गया। वह सुख मिटा नहीं है; परन्तु यह उस सुख से वियुक्त हो गया। जिनको वह सुख मिल गया वे आनन्दित हो गये। उनके कभी सांसारिक सुख की इच्छा ही नहीं रहती। क्योंकि उनको जो वास्तविक सुख मिला, आनन्द मिला उसके समान कोई दूसरा सुख है नहीं। यह स्वयं सुखराशि होकर संयोग जन्य सुख चाहता है, सांसारिक सुख में राजी होता है—यह बड़े भारी आश्चर्य की बात है। मिलने वाले व बिछुड़ने वाले सुख में राजी होता है। आप 'स्वयं' रहने वाले हैं और यह सुख आने जाने वाला है तो इस सुख से कैसे काम चलेगा?

आप रहने वाले और आपके भीतर परमात्मा रहने वाले हैं। रहने वाले परमात्मा के साथ रह जाओ तो सदा के लिए सुख मिल जाय। वह सुख कभी मिटेगा नहीं। उत्पन्न और नष्ट होने वाले शरीर के साथ तथा संयोग और वियोग होने वाले पदार्थों से सुख लेगा तो वह सुख कितना दिन रहेगा? संतों ने कहा कि 'ऐसी मूढ़ता या मनकी' ऐसी मूढ़ता है इस मन की। 'परिहरि रामभक्ति सुरसरिता' भगवान् की भक्ति गंगाजी है उसको छोड़ करके 'आस करत ओस कण की' रात्रि में ओस पड़ती है घास की पत्ती पर जल

की बून्दे चमकती है उस ओस कण से तृप्ति करना चाहता है। तात्पर्य हुआ भगवान् की भक्तिरूपी गंगाजी बह रही है उसको छोड़ करके ओस कण के समान—धन से सुख मिल जाय, स्त्री से सुख मिल जाय, पुत्र से सुख मिल जाय, मान से सुख मिल जाय, बड़ाई से सुख मिल जाय, निरोगता से सुख मिल जाय, आदि संयोगों से सुख को चाहता है। इन पदार्थों में सुख ढूँढ़ता है इनके पीछे भटकता है ये तो ओस की बून्दें हैं भाई। तरह तरह की चमकती है। थोड़ा सा सूर्य चढ़ा कि खत्म हो जायगी सूख जायगी तो इनसे तृप्ति कैसे हो जायगी? ओस के कणों से प्यास कैसे बुझेगी? 'ऐसी मूढ़ता या मन की' तो भाई सच्चा सुख चाहते हो तो उस परमात्मा की तरफ चलो, उनके साथ सम्बन्ध मानो।

जैसे कोयला काला होता है तो वह काला कब हुआ? अग्नि से अलग हुआ तब काला हुआ। अग्नि में रहते हुए तो वह चमकता था परन्तु अलग हुआ तो काला हो गया। अब इसे कोई धोवे साफ करे तो इसका कालापन साफ नहीं होता। इसके लिए आता है—**'कोयला हो नहीं उजला सौ मन साबन लगाय'**। सौ मन साबुन लगाने पर भी उजला नहीं होता तो कैसे हो! कि यह जिसका अंश है, जिससे यह अलग हुआ है, उसी आग में रख दिया जाय तो चमक उठेगा। पर आग का अंगार लेकर लाईन खींची जाय तो वह भी काली खींची जायगी। क्योंकि वह भी आग से अलग हो गया। ऐसे यह जीव परमात्मा से अलग हुआ तब काला हुआ। अब उस कालेपन को धोने के लिए साबुन लगाता है कि धन हो जाय, मान हो जाय, बड़ाई हो जाय, आदर हो जाय तो हम सुखी हो जायेंगे। इससे सुख नहीं होगा तो किससे सुख होगा? यह अपने अंशी परमात्मा को अपना मान लेगा तो सुखी हो जायगा, चमक उठेगा।

आप थोड़ा सा विचार करो तो पता चले कि लाखों- अरबों

मनुष्यों में से दो चार मनुष्य भी सुखी हो गये क्या? धन से, मान से, बड़ाई से, बडे- बड़े मिनीस्टरी जिनके पास हैं क्या वे सुखी हो गये हैं क्या? बड़े- बड़े धनियों से, बड़े- बड़े विद्वानों से आप एकान्त में मिलो कि आप सुखी हो गये हैं क्या? आपको कोई दु:ख तो नहीं है। जो सच्चे हृदय से परमात्मा में लगे हैं उनको भी पूछो। तब आपको वास्तविकता का पता लग जायगा। जो 'बाह्यस्पर्श' हैं वे तो दुखों के कारण है। असली सुख की प्राप्ति के लिए क्या करें? भगवान को पुकारो 'हे नाथ! हे नाथ!। हम तो भूल गये महाराज'! भगवान् को याद दिला दो तो भगवान् कृपा कर देंगे फिर मौज हो जायगी।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। (गी. ५/२४)

प्राणिमात्र के सुहृद् परमात्मा के रहते हुए हम दु:ख पावें बड़े आश्चर्य की बात है। महान आनन्द स्वरूप वे परमात्मा हमारे खुद के हैं कैसी मौज की बात है। पर यह अपने परमात्मा को छोड़कर परायों से प्रेम करता हैं। बच्चे आपस में खेलते हुए जब कोई किसी को मार पीट करता है, तब दौड़ करके माँ के पास आता है तो माँ की गोद में ही रहो ना! मौज से आनन्द से! क्यों बाहर जावे? ऐसे ही यह जीव भगवान से विमुख हो कर दु:ख पाता है। इस वास्ते नाशवान्से विमुख हो जाय, क्योंकि भाई! यह तो ठहरने वाला है नहीं। सन्तों ने कहा है–

चाख चाख सब छाड़िया, माया रस खारा हो।
नाम सुधा रस पीजीये छिन बारम्बारा हो।।

हमने तो यह सब चख लिया, पर माया का रस खारा है। मीठा तो भगवान् का नाम है। नाम लेकर पुकारो। हृदय मे पुकारो, 'हे नाथ!हे नाथ!हे प्रभो'!ऐसे प्रभु को पुकारो तो निहाल हो जा ओगे। 'शरणे आय बहुत सुख पायो' इस प्रकार सन्तों ने कहा है। प्रभु के चरणों के शरण होने में बड़ा सुख है। असली सुख है। असली सुख

से वंचित क्यों रहते हो? सब केलिये खुला पड़ा है यह नाम का खजाना। कैसा ही मनुष्य क्यों न हो? 'अपि चेत्सुदुराचारो' पापी से पापी भी, दुष्ट से दुष्ट भी भगवान् के सन्मुख हो जाय।

सन्मुख होई जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।

करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाय, क्योंकि पाप सब आगन्तुक है और तुम परमात्मा के हो। इस वास्ते परमात्मा के हो जाओ। संसार की सब चीजें मिट रही है अब उनको पकड़ कर सुखी रहना चाहते हैं। तुम खुद रहने वाले ओर यह सदा मिटने वाला तो मिटने वाले से कब तक काम चलाओगे? सोचते नहीं, विचार नहीं करते कि ऐसा सुख ले लेकर कब तक काम चलाओगे भाई! घर में धान होता है तब तो रोजाना रोटी बनाओ मौज से; परन्तु दूसरों से लेकर के थोड़ा किसी से लिया थोड़ा किसी से लिया, ऐसे काम कब तक चलेगा?

सुख लेते समय यह तो सोचो कि लेकर करोगे क्या? जिस शरीर के सुख के लिए तुम लेते हो वह शरीर तो प्रतिक्षण अभाव में जा रहा है बेचारा! इसके लिये सुख पाना चाहते हो। बड़े आश्चर्य की बात है! वहम यह हो रहा है कि हम जी रहे हैं। सच्ची बात है कि हम मर रहे हैं, पर ऐसा कह दें किसी को तो नाराज हो जाय कि हमें मरने की बात कह दी। अरे भाई! असली बात है कि हम हरदम मर रहे हैं। कल इस समय जितनी उम्र थी अब इतनी नहीं है। २४ घंटे उम्र कम हो गई। मृत्यु का दिन २४ घंटे नजदीक आ गया और यूँ आते आते चट आ जायगा वह दिन। वह दिन पता नहीं है कब आ जाय!

'मारहीं काल अचान चपेटकी होय घड़ीक में राखकी ढ़ेरी।'
वह दिन अचानक आ जायगा। कहाँ बैठे हो? आप और हम मृत्यु

लोक में बैठे हैं। यहाँ मब मरने वाले, मरने वाले ही रहते हैं। मरने वालों की जमात है। कोई रहने वाला दीखता है क्या आपको? फिर आप अकेले कैसे रह जाओगे भाई! सन्तों ने कहा है–

कोई आज गया कोई काला गया कोई जावनहार तैयार खड़ा।
नहीं कायम कोई मुकाम यहाँ चिरकाल से येही रिवाज रही ।।

यहाँ की रिवाज यही रही है। अब रिवाज कैसे मिटा दोगे? अनादिकाल से ऐसी रीति चली आ रही है।
इस वास्ते सन्तों ने कहा–

घर घर लाग्यो लायणो, घर घर दाह पुकार।
जन हरिया घर आपणो राखे सो हुशियार।।

क्या कृपा की है सन्तो ने! आग लग जाती है न, घरों में! उसे मारवाड़ी भाषा में 'लायणो लाग्यो' कहते हैं। आग लग गई। घर घर आग लगी हुई है। ये शरीर है, ये सब मौत रूपी 'आग' में जल रहे हैं। जैसे लकड़ी आग में जलती है। ज्यों जलती है त्यों ही कम होती जाती है। ऐसे ही ये शरीर काल रूपी आग में जल रहे हैं, उमर कम हो रही है। परन्तु दीखते हैं साबत। लकड़ी भी दीखती है साबत, पर जल रही है, कम हो रही है। ऐसे ही यह शरीर कालरूपी आग में जल रहे है, भस्म हो रहे हैं तो 'घर घर लाग्यो लायणों घर घर दाह पुकार' दाह हो रही है पुकार हो रही है। 'जन हरिया घर आपणों राखे सो हुशियार' कैसे रखे? कि भगवान् के सन्मुख हो जाय प्रभु को पुकारें फिर मौज हो जाय, आनन्द हो जाय।

जिन सन्तों के जीने से बहुत लोगों का उद्धार हो जाय जिनका नाम लेकर लोग सुखी हो जायँ, याद करके खुशी हो जायँ। ऐसे जितने सन्त हुए हैं उनकी वाणी याद करो। उसके अनुसार जीवन बनाओ तो निहाल हो जाओगे कारण कि उन्होंने रास्ता सुल्टा ले

लिया। इस वास्ते वे ठेट पहुंच गये। आज दौड़ते तो सभी हैं, पर अन्धे होकर चलते हैं। नाशवान् की तरफ चलते हैं। अरे! अविनाशी की तरफ चलो भाई। नाशवान् की तरफ चलने से अविनाशी तत्त्व कैसे मिलेगा? उत्पन्न नष्ट होने वाले पदार्थों के पीछे पड़े हैं। इनसे निर्वाहमात्र कर लें। लेकिन भीतर से यह ध्यान नहीं होना चाहिये कि पदार्थ ले लें, भोग ले लें, सुख ले लें। कुछ नहीं मिलेगा। उमर खत्म हो जायगी। समय बरबाद हो जायगा, पीछे पछताना होगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।।

भाई संसार की तरफ न जाकर के भगवान् की तरफ चलो। आज तक बहुत उमर चली गई, बहुत समय चला गया, अब भी जा रहा है। प्रभु को पुकारो 'हे नाथ! हे नाथ!!हे नाथ!!!' भगवान् के नाम का जप करो रात-दिन। संसार में उपकार करो, सेवा करो। तन से, मनसे, वचन से, धन से जो शक्ति, सामर्थ्य एवं योग्यता है। ये संसार की चीज संसार को दे दो। यही मुक्ति है। आनन्द हो गया, मौज हो गई। शरीर मात्र संसार का और ये स्वयं मात्र परमात्मा का। शरीर संसार को सौंप दें और अपने आपको स्वयं को परमात्मा को सौंप दें तो सब ठीक हो जायगा। मुक्ति सहज ही हो जायगी।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरि :

भगवान् से सम्बन्ध

११-१०-८१.

गीता प्रेस'
गोरखपुर

कामना करें तो भगवान् की करें। क्रोध करें तो भगवान् से करें। 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्य'। अगर भगवान् हमारे पर क्रोध भी करेंगे तो वह हमारे लिये 'वरेण तुल्य' वर के तुल्य होगा। नारद भक्ति सूत्र में आया है– **'काम क्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्'** (६५) मानो हमारे लिये कुछ भी करने का विषय परमात्मा बन जाय। कामना करें, चाहे क्रोध करें, चाहे लोभ करें कुछ भी करें तो भगवान् में ही करें। करने से क्या होगा –**'तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।'** किसी प्रकार से भगवान् में मन लगा दें तो हमारा कल्याण ही है। जैसे बिना इच्छा के भी अग्नि के साथ सम्बन्ध करेंगे, स्पर्श करेंगे, भूल से पैर टिक जाय, हमें पता ही नहीं कि यहां अंगार है, तो भी वह तो जलायेगी ही–**'अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावक।'** ऐसे ही भगवान् का नाम किसी तरह से लिया जाय, भगवान् के साथ किसी तरह से सम्बन्ध किया जाय वैरसे भी, प्रेमसे भी, भयसे भी, द्वेषसे भी सम्बन्ध किया जाय तो वह संपूर्ण पापों का नाश करने वाला है–'अशेषाघहरं विदुः' यह बात भगवान् के नाम के विषय में बतायी, स्वरूप के विषय में तो कहना ही क्या है?

भगवान् के साथ सम्बन्ध करने से सम्बन्ध भगवान् के साथ जुड़ जाता है। जैसे संसार के साथ सम्बन्ध जुड़ने से हमारा जन्म —मरण होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सद्सद्योनिजन्मसु।**' 'अस्य गुणसङ्गः सद् असद् योनिषु जन्मनः कारणम्।' तो हमारे जन्म मरण का कारण क्या होता है? 'गुण सङ्गः' गुणों का संग। ऐसे ही निर्गुण में संग हो जायगा तो वह जन्म—मरण में कारण कैसे होगा? यही तो परीक्षित् ने प्रश्न किया है, वहाँ रास पञ्चाध्यायी में कि 'भगवन्! गोपियां तो भगवान् कृष्ण को सुन्दर पुरुष के रूप में ही जानती थी, ब्रह्मरूप से नहीं, तो गुणों में दृष्टि रखने वाली गोपियों का गुणों का संग कैसे दूर हुआ? उसका शुकदेव मुनि ने उत्तर क्या दिया? वहाँ कहा है कि 'भगवान् से द्वेष करने वाला चैद्य भी परमात्मा को प्राप्त होगया— 'चैद्यः सिद्धि यथागतः' तो 'किमुताधोक्षज प्रियाः' जो भगवान् की प्यारी है, उनका कल्याण हो जाय, उसमें क्या कहना ! किसी तरह से ही भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाय, किसी रीति से हो जाय। वैर से, प्रेम से, सम्बन्ध से, भक्ति से, द्वेष से, भय से। '**भयात् कंस, द्वेषात् चैद्यादयो नृपाः, वृष्णय सम्बन्धात् भक्त्या वयम्**'। नारदजी ने कहा है—'किसी तरह से भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाय तो वह कल्याण करेगा ही। यह बात है। इस बात को भगवान् जानते हैं और भगवान् के प्यारे भक्त जानते हैं। तीसरा आदमी इस तत्त्व को नहीं जानता है।

लोग शंका करते हैं कि भगवान् को अवतार लेने की क्या जरूरत है? क्या वे साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना संकल्पमात्र से नहीं कर सकते? कर नहीं सकते, यह बात नहीं। वे तो करते ही रहते हैं फिर अवतार लेने में क्या कारण हैं?

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।गी.४/८।।

दुष्टों का विनाश, भक्तों का परित्राण (रक्षा) और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना.इसके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। दुष्टों का विनाश करना, भक्तों की रक्षा करना। इसका अर्थ यह नहीं कि दुष्टों को मार देना और भक्तों को न मरने देना, पर भक्त भी तो मर जाते हैं। तो रक्षा का अर्थ उनके शरीरों को 'है ज्यों कायम रखना'—यह नहीं है। इसका अर्थ है 'उनके भावों की रक्षा'। भक्त की दृष्टि में शरीर का कोई मूल्य नहीं है। वहाँ मूल्य है 'भगवद्‌भक्ति' का। भगवान् की तरफ चलने वाले मनसुख आदि ने फाँसी स्वीकार करली हँसते हँसते। शरीर की वहाँ कोई इज्जत नहीं है। इसको तो 'एकान्त विध्वंसिषु' कहा है। यह नष्ट होने वाला ही है, यह तो नष्ट होने वाली चीज है—'पिण्डेषु नास्था भवन्ति तेषु।' भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं। उस लीला को गा—गाकर भक्त मस्त होते रहते हैं। यह बिना अवतार के नहीं हो सकता। भगवान् की चर्चा चलती है, कथा चलती है, लीला चलती है। यह सब अवतार होने से ही हो सकता है। तो लोग गा—गाकर संसार से तरते जाते हैं और तरते ही रहते हैं। भगवान् इस तत्त्व को जानते हैं। इस वास्ते अवतार लेकर लीला करते हैं और संत महात्मा भी इस वास्ते भगवच्चर्चा करते हैं।

तवकथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्री मदाततं भुविगृणन्ति ते भूरिदाजना:।।

जो आपकी कथामृत को कहते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, वे 'भूरिदा : बहुत देने वाले हैं तो वे देने वाले भी हैं और लेने वाले भी हैं। मानो सुनने वालों को देते हैं और सुन कर लेते हैं। सुनने वालों को लाभ होता है तो कहने वालों को नहीं होता है क्या? होता ही है। इस वास्ते भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं, तो भक्तों की रक्षा क्या है?

भक्तों का धन हैं भगवान्। उस भगवान् की लीला कहने, सुनते, विचार करते रहें—यही वास्तव में भक्तों की रक्षा है और, इस वास्ते ही हनुमानजी को '**प्रभु चरित सुनिबे को रसिया**' कहा है। भगवान् का चरित्र सुनने के लिये वे रसिया हैं रमिया। वाल्मीकि रामायण में आता है कि जब भगवान् दिव्य साकेत लोक जाने लगे तो हनुमानजी ने कहा मैं साथ नहीं चलूंगा। जब तक आपकी कथा भूमण्डल पर रहेगी, मैं भूमण्डल पर रहूँगा। जहाँ—जहाँ आपकी कथा होगी वहाँ वहाँ सुनूँगा। भगवान् को छोड़कर कथा का लोभ लगा उनको। भगवान् को देखने से गरुड़ जी को मोह हो गया। भगवान् को देखने से कागभुसुंडिजी को मोह हो गया, भगवान् को देखने से नारदजी को मोह हो गया। भगवान् को देखने से सती को मोह हो गया और वह रामायण सुनने से मोह मिट गया। भगवान् को देखने से गरुड़जी को मोह हो गया और चरित्र सुनने से मोह दूर हो गया। यह तो जानते ही हैं आप! तो भगवान् से बढ़कर भगवान् के चरित्र हैं। यही भक्तों की रक्षा है कि इस चर्चा को करते रहें। अपने भाई लोग जो कि पारमार्थिक मार्ग में चलना चाहते है, उनका विचार रहता है कि अच्छे महात्माओं का संग करें। ऊँचे दर्जे के संत—पुरुष हों तो उनका हम संग करें। यह भाव रहता है और यह ठीक ही है, उचित ही है! परन्तु इसी अटकल को महात्मा पुरुष लगा लें अपने लिए तो वे अपने से ऊँचों का संग करेंगे। वे उनसे ऊँचों का, भगवान् का ही संग करेंगे। फिर हमारे साथ माथा—पच्ची कौन करेगा!

भगवान् अवतार लेते हैं। अवतार नाम है 'उतरना'। अवतार तो नीचे उतरने को कहते हैं। तो भगवान् नीचे उतरते हैं, हम जहाँ हैं वहाँ। जैसे बालक को आप पढ़ाओगे तो आप भी 'क' 'क' कहोगे और हाथ से 'क' लिखोगे तो यह क्या हुआ? आपका बालक की

अवस्था में अवतार हुआ। उस अवस्था में न उतरें तो आप बालक को कैसे सिखायेंगे? कैसे समझायेंगे? अब उसको व्याकरण की बात समझाने लगे तो बच्चा क्या समझेगा? वहां तो 'क' कहते रहो। हाथ से लिखाते रहो कि ऐसा 'क' होता है तो उसके समकक्ष होकर सिखाते हैं। ऐसे भगवान् अवतार लेकर कहते हैं—कैसे करो? कि हम करते हैं जैसे करो। **'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्'** ऐसे करना चाहिये, ऐसे नहीं करना चाहिये। जैसे मैं अवतार लेकर लीला करता हूँ। ऐसे तुम करो और न करो तो सुनो बैठे-बैठे ;क्योंकि 'श्रवण मंगलम्' भगवान् की कथा श्रवण मात्र से भी मंगल देने वाली है।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात्।
क उत्तमश्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।।

जिनकी तृष्णा दूर हो गयी है, ऐसे जो निवृत्ततर्ष हैं, उनकी कोई इच्छा नहीं; कोई कामना नहीं किंचित् मात्र भी। वे तो रात—दिन गाते ही रहते हैं, करते ही रहते हैं। सनकादिक निर्लिप्त ही प्रकट हुए और चारों ही समान अवस्था वाले हैं, छोटी अवस्था—पांचवर्ष की आयु वाले हैं। तीन श्रोता हो जाते हैं, एक वक्ता हो जाते हैं और भगवान् की कथा करते हैं। अब उनके क्या जानना बाकी रह गया? **'चरित सुनहि तजि ध्यान'**, ध्यान को छोड़कर के भगवान् के चरित्र सुनते हैं। ऐसे क्यों करते हैं? कि भाई **'इत्थं भूत गुणो हरि'**: भगवान् हैं ही ऐसे। भगवान् इतने विलक्षण हैं कि **'आत्मारामगणा कर्षी'** नाम है भगवान् का। जो 'आत्माराम गण' हैं जो परमात्म स्वरूप में ही नित्य रमण करते हैं, वे भी आकृष्ट हो जाते हैं भगवान् के गुणों में, भगवान् की लीला में। भगवान् के गुण सत्व, रज, तम नहीं हैं। **'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था'** दोनों अर्थ हुए—एक तो चिज्जडग्रन्थी भेदन हो गई और

'निर्ग्रन्था-शास्त्रमस्मान्निवर्तन्ते' जिससे ग्रन्थ भी निवृत्त हो जाते हैं फल देकर के। ग्रन्थ अब क्या देगा? ग्रन्थ तो मुक्ति देगा। वे मुक्त हो गये। निग्रन्था हैं तो भी **'उरूक्रमे कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिम्'**, बिना स्वार्थ के, बिना मतलब के भक्ति करते हैं। क्यों करते हैं बिना मतलब? 'इत्थं भूतगुणो हरिः' भगवान् ऐसे ही हैं। अब करें क्या? उस तरफ वे आकृष्ट हो जाते हैं। तो वे ऐसे गुण हैं, ऐसी उनकी लीला। जिनको 'निवृत्ततर्ष' कहते हैं वे भी गाते रहते हैं, वे भी लीला करते रहते हैं।

'हरिश्शरणमित्येव येषां मुखे नित्यं वच' उनका वचन ही यह है 'हरिः शरणम्' शरण, आश्रय हमारा भगवान् का। तो वे क्या आश्रय लेंगे? अब क्या लेना है उनको? क्या मुक्ति करनी है? क्या प्राप्त करना है? ऐसा न होते हुए भी भगवान् में लगे रहते हैं। तो ऐसे सन्त—महापुरुष वे भगवान् की कथा सुनते हैं और सुनाते हैं। आपस में कहते हैं तो उनके संग से मात्र प्राणियों का उद्धार होता है। जहां सत्संग कथा होती है, वहां सब तीर्थ आ जाते हैं। जितने ऋीषि-मुनि हैं, वे सभी आ जाते हैं। गीता का पठन—पाठन होता है, वहां नारद उद्धव आदि सब आ जाते हैं। तो उनके आने से वहां का स्थल कितना पवित्र हो जाता है!

सतां प्रसंगान्मम वीर्य संविदो। भवन्ति हृत्कर्ण रसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा भक्ति रतिरनुक्रमिष्यति।।

श्रेष्ठ पुरुषों के संग से भगवान् के प्रभाव को वर्णन करने वाली, भगवान् के प्रभाव का ज्ञान कराने वाली, भगवान् के प्रभाव को स्पष्ट बताने वाली 'हृत्कर्ण रसासनाः कथाः' हृदय और कानों को रस देने वाली कथा मिलती है। मानों कानों में ही श्रवण पुट से पीते हैं, और हृदय में प्रफुल्लित होते हैं, मस्त होते हैं। ऐसे आनन्द देने वाली कथा होती है जहां, वहां श्रेष्ठ पुरुषों के संग में व्यापार ही

वही है। उनके कथा–कीर्तन ही विषय हैं, उनका काम ही यह है। तो ऐसे वे कथा करते रहते हैं। 'सतां प्रसंगात् मम वीर्य संविदो।, भवन्ति हृतकर्ण रसायणा कथा। तज्जोषणात्' उनके सेवन करने से 'आशु अपवर्ग वर्त्मनि' परमात्मा की प्राप्ति का जो अपवर्ग रास्ता है, उस में श्रद्धा, भक्ति, रति, 'अनुक्रमिष्यति' सब हो जायगा। तो यह सब का सब हो जाता हैं। इस वास्ते भगवान् लीला करते हैं वह लीला अवतार लिये बिना कैसे करे? जिसको गा करके संसारके प्राणी अपना उद्धार कर सकें।

वह लीला इसलिये करते हैं कि जिन सन्त महात्माओं के लिये कुछ कहना सुनना नहीं, वे भी कथा कहते हैं। **'यत्राच्युतोदार कथानि सर्वाणि तीर्थानि निवसन्ति तत्र।'** सब तीर्थ वहाँ निवास करते हैं। 'यत्राच्युतो दार कथा प्रसंगः' जहाँ भगवान् की उदार कथा होती है, वहां सब तीर्थ आ जाते हैं तो पवित्रता की महान् पवित्रता होजाती है वहाँ। **'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानाम् च मंगलम्'** भगवान् को कहते हैं–पवित्रों का पवित्र, मंगलों का मंगल। ऐसे भगवान् की कथा, उनके गुण, उनकी लीला, उनका स्वरूप, उनका तत्त्व इनका विवेचन जहाँ होता है, वहाँ वह प्रयाग राज माना है। **कथा सर्वाणि तीर्थानि निवसन्ति तत्र।'**

गोस्वामीजी महाराज कहते हैं–'संत समाज प्रयाग', जहां संत संग होता है वहां प्रयागराज है। और कहते हैं–

'राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसई ब्रह्म विचार प्रचारा।। विधि निषेधमय कलिमल हरनी।

करम कथा रवि नंदिनी बरनी।।

जैसे त्रिवेणी है प्रयाग राज में तो भगवान् की भक्ति तो गंगाजी की धारा है। और 'विधि निषेध मय कलिमल हरनी' यह यमुना जी है। यमुना जी का जल काला है, और गंगाजी का जल स्वच्छ सफेद है

तो भक्ति में स्वच्छता दीखती है। विधि—निषेधमय; करनी काली दिखती है, यह यमुनाजी है। सरस्वती क्या है? भीतर ही भीतर चलती है। 'सरसई ब्रह्म विचार प्रचारा।' जहां ब्रह्म का विचार विवेचन होता है तो हर एक आदमी समझता ही नहीं। वह अंत: सलिला सरस्वती है। जहां तीनों ही चलती है, वह त्रिवेणी है ज्ञान, भक्ति और कर्म की। इस वास्ते कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान योग हैं। जहां समता में स्थित हुए तो योग हो जाता है। और जहां योग (समता) नहीं, वहां केवल कर्म, भक्ति, ज्ञान रहते हैं; परन्तु यदि उनका सम्बन्ध भगवान् के साथ ही होता है तो वह योग होता है। ऐसे कथा चलती है तो भगवान् की कथा में त्रिवेणी आ जाती है। प्रयागराज आ जाता है और जितने पार्षद हैं, वे आ जाते हैं। नारद आदि भक्त आ जाते हैं। **'पुष्करादि सरांसिच'** वे आ जाते हैं। सब भगवान् की कथा में आ जाते हैं। तो भगवान् की कथा, भगवान् अवतार लेकर आते हैं, तब न करते हैं सभी। भगवान् का भक्तों की रक्षा करने का तात्पर्य है भक्तों के धन की रक्षा करना। भक्तों का धन क्या है? भक्तों का धन भगवान् हैं। भगवान् की बात चले वही उनकी रक्षा है। और यही उनको धनी रहने देना है। उनका धन बढ़ाना है। उनकी रक्षा करनी है सब तरह से। और दुष्टों का विनाश क्या है? दुष्टता का विनाश करना। शरीर के साथ वैर नहीं है भगवान् का। 'सुहृदं सर्व भूतानां' भगवान् प्राणी मात्र के सुहृद् हैं क्या प्राणी मात्र में दुष्ट नहीं आते हैं? उतके भी सुहृद् है। उनका विनाश करना ही उनका कल्याण करना है। धर्म स्थापना भी कल्याण करना है। 'पवित्राणां पवित्रं य:' हैं भगवान् सब के लिये। ऊपर से भगवान् की क्रिया दो तरह की दिखती है। जैसे **'लाल ने ताड़ने मातुर्नाकारुण्यं यथा ऽर्भके'** माता प्यार करती है तो हित भरे हाथ से थप्पड़ भी मार देती है। तो बालक के ऊपर उसकी अकरुणा नहीं होती। 'लालने ताड़ने

मातुर्नाकारुण्यम्'—अकृपा नहीं है। **'तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः'** ऐसे ही गुण और दोषों का नियंत्रण करने के लिये विनाश करके कृपा करते हैं उनके ऊपर। कृपा में कोई फर्क नहीं। ऊपर की क्रिया दो हैं। माँ की भी पालन करने की और ताडना करने की क्रिया दो हैं; परन्तु हृदय एक है माँ का। लालन में भी हृदय वही। ताडना में भी हृदय वही रहता है जो पालन करने में, प्यार करने में है और प्यार करने में हृदय रहता है, वही मारने में है।

परीक्षा करनी हो तो कोई माँ अपने बच्चे को मारती हो तो उस समय एक दो चाँटा आप भी लगा दो। अरे! क्या करता है? तेरी मदद कर दूँ। अकेली मेहनत करती है, थोड़ी सहायता कर दूँ। तो क्या माँ समझेगी कि मेरी सहायता करता है? लड़ेगी आपसे, कि क्यों मारता है मेरे छोरे को? तो तू क्या कर रही है? वह मारने के लिए थोड़े ही मारती है, हृदय में प्यार भरा है। वह मारती है दोष नियंत्रण करने के लिये, निर्मल करने के लिये। ऐसे **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'**—यह क्रिया दो तरह की दीखती है; परन्तु इन सब क्रियाओं में भगवान् वे ही हैं वैसे ही हैं।

गोस्वामीजी महाराज सुन्दरकाण्ड में लिखते हैं कि हनुमानजी लंका गये तो वहाँ लोग कैसे हैं—'खर अज भक्षहि' ऐसे राक्षस वहाँ रक्षा करते हैं। तो तुम इनका वर्णन क्यों करते हो? वे सब भगवान् के हाथों मरेंगे, इस वास्ते हमने सँक्षेप में कथा कही है। और कही हैं इसलिये कि भगवान् के हाथों मरेगें और भगवान् का सम्बन्ध हो जायगा। इनकी कथा के साथ भगवान् का सम्बन्ध है। नहीं तो राक्षसों की कथा क्यों कहते? क्या मतलब है आपको? हमें इनसे मतलब नहीं, भगवान् से मतलब है। अब भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया इसलिए उनकी भी कथा कहनी है। उनकी

कथा में भी भगवान् की कृपा, भगवान् की दयालुता, भगवान् की विलक्षणता स्वतः ही प्रकट होती चली जायगी। तो अब वे उनके साथ क्रोध करें, काम करें, लोभ करें, ईर्ष्या करें, द्वेष करें, बैर करें, कुछ भी करें—सम्बन्ध भगवान् से जुड़ जाता है। वह सम्बन्ध ही वास्तव में कल्याण करने वाला है, क्यों कि गुणों का संग जन्म मरण देने वाला है। तो 'निर्गुणस्य गुणात्मनः' सगुण को भी निर्गुण कहा—गुणात्मा है वो, वह कल्याण करने वाला है। इस वास्ते भगवान् से किसी तरह से आप सम्बन्ध जोड़ लो, और भगवान् के साथ कुछ भी कर लो, वह कल्याण करेगा। **'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।'** भगवान् में मन लगा दो तो भगवान् में मन लगाने से कल्याण होता है। नारदजी महाराज कहते हैं—'प्रेम उसमें ही करो, उसको ही अपनी वृत्तियों का विषय बनाओ, जो कुछ है, लक्ष्य उसी को बनाओ। उनके साथ चाहे जैसे आप कर लो।

कितनी विचित्र बात है कि जो कुछ करो, भगवान् के लिए करो, सब ठीक हो जायगा। **'कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते'** उस परमात्मा के लिये कर्म किया जायगा वह सब सत्कर्म हो जायगा। कर्म भी कभी सत् होता है? कर्म का तो आरंभ होता है और समाप्ति होती है। फल भी आरम्भ होता है और समाप्त होता है। तो कर्म, वह सत् थोड़ा ही होता है, क्रिया निरंतर होती नहीं। परिवर्तनशील है क्रिया तो वह सत् कैसे होगी? पर वह 'तदर्थीय' हो जायगा, भगवान् के लिये हो जायगा, तो कर्म भी सत् हो जायगा। सत् क्यों हो जायगा? आग में लकड़ी डालो, पत्थर डालो, कोयला डाल दो, कंकड़ डाल दो, कुछ भी डाल दो, वह भी चमकने लगेगा। क्योंकि अग्नि के साथ में हो गया न। ऐसे ही भगवान् के साथ जो कुछ आप करलो, वह सबका सब चमक उठेगा। सत् हो जायगा।

पूतना ने जहर दिया मारने के लिये। उसने तो मारने के लिये दिया, पर भगवान् ने उसका उद्धार कर दिया। क्योंकि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी उसको वैसे ही भजता हूँ। पूतना मारने के लिए गयी तो मार ही दिया उसको; परन्तु मार कर कल्याण किया। यह तो नई बात है। वह पूतना कोई कन्हैया को मार कर कल्याण करती क्या! **'अहो बकीयं स्तन कालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्यऽसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचिताम्'**—जो गति धाय मां को देनी चाहिये, वह गति 'लेभे।' **'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।'** शुकदेव मुनि की व्यासजी महाराज गरज करते रह गये, पुकारते रहे **'पुत्रेति तन्मयतया तरवो ऽभिनेदुः'** वृक्ष, पहाड़ बोले, पर वे नहीं बोले। पुत्र! पुत्र! कहते हुए व्यासजी पीछे जाते हैं। शुकदेवजी तो बोले ही नहीं, आगे भागते हैं। वे ही शुकदेवजी अब आकर गरज करते हैं व्यासजी की। व्यासजी ने भागवत बनाकर ब्रह्मचारियों को सिखायी। ब्रह्मचारियों को समिधा के लिए जँगल में भेजा। वे समिधा लाने गये। वहां पर वे 'अहो बकियं स्तन कालकूटम्' यह श्लोक गा रहे थे। शुकदेवजी के कानों में पड़ गया तो सोचा, कहां का श्लोक है? कौन गा रहे हैं? कैसी बात है? वें भगवान् के गुणों से आकृष्ट होगये। यह तो भागवत का है। तो किसने बनाया? व्यासजी ने बनाया तो हम तो भागवत् पढ़ेंगे। जो पिताजी की आवाज नहीं सुनते थे, वे गरज करके पढ़ते हैं। गरज क्यों करते हैं? भगवान् के गुणों से आकृष्ट हो गये। ऐसे वो दयालु 'जिघांसया पाययत्' मारने की इच्छा से स्तन पिलाया। और 'लेभेगतिं धात्र्युचिताम्' तो जहर पिलाया मारने के लिए, मार तो उसको दिया, 'यथा मांतथैव' परन्तु अन्त में भाव तो भगवान् का अपना रहेगा। वहां तथैव प्रकार में है। व्याकरण में 'प्रकार वचने थाल्' होता है। उसी प्रकार से, उसने स्तन दिया मुंह में कि लाला दूध पी ले। अब दूध तो था

नहीं, वैर से दूध कहां से आवे उसमें? लाला खेंचने लगा जोर से तो प्राण खिंच गये। 'मुञ्च मुञ्च', छोड़, छोड़! छोड़े कौन? छोड़ना भगवान् को आता ही नहीं है। पकड़ना आता है। अभी क्या छोड़ दे, मरने के बाद भी नहीं छोड़ेंगे। छोडेंगे ही नहीं कभी। इनको बस पकड़ा दो, फिर मौज करो, किसी प्रकार से इसमें लगादो।

सम्बन्ध तो जोड़ दो तुम। फिर यदि उल्टे पुल्टे हो भी जाओगे तो जन्म हो जायगा। भरतमुनि के हुआ, जैसे हो जायगा, नहीं तो ठीक हो जायगा। भगवान् का यह सम्बन्ध मात्र है, यह बहुत विलक्षण है। इस बात के लोभ से सन्त—महात्मा लोग एकान्त में बैठकर ध्यान भजन न करके सत्संग आदि करते हैं। वहां एकान्त में बहुत ठीक मन लगता है। उनका कोई मन न लगता हो, ऐसी बात नहीं है। परवश होकर भजन करना पड़ता हो, ऐसी बात नहीं। इतना होते हुए भी सत्संग क्यों करते हैं? कि इसमें लाभ बहुत है। बहुत विलक्षण लाभ है। उनको लाभ क्या लेना है? लेने के लिए थोड़े ही होता है। लाभ तो लाभ ही है। यह किसी तरह से ही हो। लाभ की बात ऊँची बात है। यह एक रिवाज छोड़ देते हैं। जिससे दुनिया का कल्याण होता ही रहे, होता ही रहे, सदा केलिये। कितनी विलक्षण बात है! भगवान् में किसी रीति से! आप मन लगाओ, किसी रीति से, आप में जो शक्ति हो उसी रीति से और जो आपका सम्बन्ध हो, उसी सम्बन्ध से। भगवान् को बाप मान लो, बेटा मान लो, गुरु मान लो, चेला मान लो, कुछ भी मान लो। नौकर मान लो तो भगवान् नौकरी करेंगे। बेटा मान लो तो ठीक बेटे का भाव रखेंगे।

कलकत्ते के पास एक गाँव है, उसकी एक बात सुनी थी। वहाँ ठाकुरजी की मूर्ति थी काठ की। कृष्ण भगवान् की पूजा करते थे पुजारी। वहां पुजारी था, उनकी स्त्री थी, एक लड़का था, एक गाय थी और एक बछड़ा था। पूजा करते थे। पूजा करते—करते बछड़ा

मर गया। गाय मर गयी। अब ठाकुरजी के रुखी–सूखी भोग लगावें। कहते कि तुम्हारे को दूध औरघी पाना था तो गाय को मारा क्यों? अब ठाकुरजी ने थोड़े ही मार दिया। हमारे को मिले जैसा भोग लगावेंगे हम तो। वैसे ही भोग लगाते। फिर स्त्री मर गयी। अब कहा, 'दोनों वक्त कौन रसोई बनावे? एक वक्त बनायेंगे। एक वक्त आप भी खाओ और हम भी खायेंगे। दो वक्त कौन बनावे महाराज? हम भजन–ध्यान में निरंतर रहते थे, उस समय स्त्री बना लेती थी तो पा लेते। अब बनाना पड़ता है, समय लगाना पड़ता है, इतना समय कौन निकाले?' आठ पहर से बनाते। ठाकुरजी के भोग लगा देवें और दोनों पा लेवें। ऐसे करते-करते लड़का मर गया। अब अकेले रह गये। वे तो अपने भजन करें, वैसे ही। लोग बहुत प्रेम से आते थे दर्शन करने के लिये। ये दर्शन करने आते हैं न? तो ठाकुरजी के दर्शन करते हैं; परन्तु ठाकुरजी में तो ठाकुरपना भक्त से होता है। भक्त जब सेवा करता है, भाव से पूजन करता है तो ठाकुरजी में विलक्षणता आ जाती है। हरेक दर्शक का चित्त खिंच जाता है, दर्शन करने को; क्योंकि श्री विग्रह में ठाकुरजी आगये विलक्षणता से, उसके भाव के कारण से। लोग बहुत दर्शनों के लिये आया करते।

पुजारीजी को हो गया बुखार। बुखार में पड़े रहे। कुछ दिन बुखार आया। रात्रि में उनके प्राण चलने लगे। बाहर से दरवाजा बन्द है। उस समय यह बात उनके मन में आयी कि छोरा होता तो सिर दबाता कम से कम। मस्तक में पीड़ा हो रही है बहुत। क्या करूँ मैं? फिर मरने लगे तो सोचा, छोरा पिण्ड तो देता कम से कम। अब पिण्ड और पानी भी कौन देगा? ऐसा सोचकर भजन करने लगे भगवान् का। भगवान् आ गये और गोदी में ले लिया। घुटनों पर सिर रख लिया उसका। छाती पर हाथ, जिसमें पिण्ड लिया

हुआ है। माथे पर हाथ रखा हुआ। छोरा बिना सिर कौन दबायेगा? तो मैं दबाऊँगा। पिण्ड कौन देगा? मैं दूँगा। अब ठाकुरजी पिण्ड देते हैं। सब काम करते हैं ठाकुरजी। काम करके राजी बहुत होते हैं ठाकुरजी। माताएँ बच्चों का पालन करती हैं। वही बच्चा एक दिन आप भाई लोगों के हाथ में दे दिया जाय तो आठ पहर भी नहीं रख सकते और वह पालन करती है। पालन करने वाले के उकताहट नहीं होती। अगर उकता जाय तो बच्चे का पालन कैसे हो? पर वह उकताती नहीं है। पालन कर लेती है। ऐसे ठाकुरजी भी भक्तों का काम करते हुए उकताते नहीं। जैसे माँ का उकताना तो दूर रहा, माँ को आनन्द आता है। बच्चा मर जाय तो बड़ी रोवेगी। अरे! रोती क्यों है? तुम्हारी तो आफत मिटी। अब कुछ करना ही नहीं पड़ेगा। यह सुनाओ उसको तो वह नाराज़ हो जायगी कि कैसे कहते हो ऐसे? ऐसे ही ठाकुरजी आफत से राजी बहुत हैं। ठाकुरजी भी हमारा पालन करने में राजी बहुत हैं। प्रसन्न होते हैं हमारा पालन करके, हमारी रक्षा करके।कितनी बड़ी आफत करी है, कितना बड़ा संसार रचा है। 'एकाकी न रमते।' अकेले का जी नहीं लगता। उनका मन नहीं लगता अकेले का। इस वास्ते यह रोला मचाया है इतना। इतना इकटठा किया है। मैं एक ही बहुत हो जाऊँ। 'एकाकी न रमते'—मन ही न लगे अब क्या करें? इतना करके फिर सबका प्रबन्ध करते हैं, पालन करते हैं, सब झंझट करते हैं भगवान्। पर करते हैं भक्तों के लिये।

प्रह्लादजी की रक्षा के लिये प्रकट हुए। उस हिरण्यकश्यप को नखों से चीर दिया। भीतर में पेट की आंतें थी, वे गले में डाल ली। फिर उसके पेट के भीतर खोजते हैं। महाराज क्या खोजते हो? कोई प्रह्लाद मिल जाय, इससे प्रह्लाद प्रकट हुआ है, पैदा हुआ है। संतान पहले पिता में फिर माँ में आता है, आता है न? इस वास्ते

कोई मिल जाय भक्त। ठाकुरजी के बहुत लोभ है। किसी तरह से कोई भक्त मिल जाय। एक बात बतावें, आप ध्यान देकर सुनें। आजकल भगवान् के घाटा बहुत ज्यादा है। सत्य, त्रेता, द्वापर में भक्त होते थे, पर आजकल भगवान् निकम्मे बैठे हैं। कोई पूछता नहीं। किसी युनिवर्सिटी या संस्था में विद्यार्थी अधिक परीक्षा में बैठते हैं तो (प्रथम श्रेणी) एक नम्बर पाना मुश्किल और परीक्षा में विद्यार्थी कम बैठे हों तो मामूली विद्यार्थियों को भी फेल कर दें तो संस्था चलनी हो जाय मुश्किल। कोई नहीं निकले। तो इस वास्ते जैसा भी हो उसे पास करो, क्योंकि अपनी संस्था मिट जायगी। अभी भगवान् के यहां बहुत जल्दी आदमी पास होते हैं, थोड़ी भक्ति में ही। भगवान् सोचते हैं कि अभी कलियुग में भक्त कम हैं। इस वास्ते जल्दी करो पास, इनको ठीक करो। अभी मौका बहुत बढ़िया आया है। ऐसा मौका हरदम नहीं मिलता। ऐसे मौके में हम लग जायँ तो अपना तो काम बन जायगा। इस वास्ते रात–दिन लग जायँ नाम जप में, कीर्तन में, कथा सुनने में, कहने में, पढ़ने में। रात–दिन इसमें ही लग जायँ। अरे भाई!पैसे बहुत कमाये हो, भोग बहुत भोगे हो, तो भी इनसे तृप्ति होने वाली है नहीं क्योंकि आप हो परमात्मा के अंश और ये हैं जड़ प्रकृति के अंश। चेतन की भूख जड़ से कैसे मिटेगी? कितना ही कमालो, कितना ही भोग भोग लो, पर भूख नहीं मिटेगी और चिन्मय परमात्म तत्त्व को प्राप्त हो जाय तो भूख रहेगी ही नहीं।

'कोयला हो नहीं उजला सौ मन साबुन लगाय।' कोयले को कोई साफ, स्वच्छ करना चाहे तो सौ मन साबुन लगा दे तो क्या स्वच्छ हो जायगा? कालापन मिट जायगा क्या उसका? नहीं मिटेगा। तो फिर उपाय क्या है? आग में रखते ही चमक उठेगा। यह जीव कोयला बन गया भगवान् से विमुख होने से। अब उपाय

करता है, साबुन लगाता है कि धन कमा लेंगे, भोग भोग लेंगे, यश हो जायगा। हमारा मान हो जायगा। हम यह करेंगे, पर कालापन तो मिटेगा नहीं बाबा! कितना ही साबुन लगाओ! कितना ही धोओ! कितना ही करो! क्या कर लोगे? बताओ! अब कोयला सफेद हो जायगा क्या? ऐसे आप उपाय करते हैं जितना–जितना, उतना–उतना अलग हो जायगा और उलझ जायगा। सुलझाने के लिये ज्यों-ज्यों चेष्टा करता है, त्यों-त्यों अधिक उलझता है–

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य'।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्थाबहुली भवन्ति।।

एक दुःख गया तो दूजा तैयार। दूजा गया तो तीजा तैयार। इस प्रकार दुःख पर दुःख पनपता ही रहता है; क्योंकि दुःखालय है यह। दुःख ही दुःख होता है। वस्त्रालय होता है, ओषधालय होता है। ऐसे 'दुःखालयमशाश्वतम्' दुःखालय में सुख ढूंढते हैं। दुःखालय में सुख कैसे मिलेगा, भाई? दुःखालय में तो दुःख ही दुःख है। 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।' सुख इसमें है नहीं भैया! यह दुःखालय है। 'इमं प्राप्य भजस्व माम्' तू मेरा भजन कर ले, पर भजन भगवान् का न करके भजन दुःखों का ही करते हैं कि भगवान् ने हमारा दुःख नहीं मिटाया। हमारे को बेटा नहीं दिया, हमारे को धन नहीं दिया, हमारे को निरोगता नहीं दी, हमारे को मान–सत्कार नहीं दिया, हमारी प्रशंसा नहीं की, भगवान् ने ऐसा नहीं किया–यह चाहना क्या है? अधिक दुःख की चाहना है। भगवान् कहते हैं, 'तेरे को दिया उतना बहुत काफी है। अलग और क्यों पकड़ता है?' यह कहता है, 'इतना नहीं और दुःख होना चाहिए। धन और हो जाय तो सुखी हो जायँ।' और हो जाय तो सत्संग भी नहीं करेगा। फिर उसमें ऐसा लिप्त हो जायगा कि भजन ध्यान ही छूट जायगा। क्या करें? काम-धन्धा ज्यादा आ

गया, मील और खुल गयी, अब समय नहीं मिलता, भजन करने केलिये। विमुख होने के लिये यह चेष्टा कम नहीं करता है। ठाकुरजी विमुख होने नहीं देते। इसके मन की नहीं होते देते। इसके मन की होवे तो यह कितनी ही ख़ुराफात (उद्दंडता) करे। भगवान् करने नहीं देते। इसमें यह हो जाय नाराज। जैसे पतंगे आग सुलगने पर उसके भीतर दौड़कर प्रविष्ट होते हैं। उनको अलग कर देता है कोई तो पतंगे बहुत नाराज होते हैं। अगर उनका वश चले तो मुकद्दमा करे उस पर कि हमारे को आग नहीं लेने देते। आग बन्द करने वाला उन पर करता है दया किये आग में खतम हो जायेंगे; परन्तु आड लगना उनको अच्छा नहीं लगता। ऐसे संसार के भोगों में, ऐश्वर्य में रात-दिन लगे हैं। आड लग जाय तो उसके साथ लड़ाई करेंगे कि मेरे को क्यों नहीं जलने दिया? हम तो पड़ेंगे भीतर, कूदकर। 'रहने दे भैया, कुछ दिन जी तो जा।' 'ना।' ऐसी दशा हो रही है लोगों की। ऐसी दशा से बचाने के लिये भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ो, पर जोड़ते हैं नाशवान् पदार्थों के साथ।

आप हैं अविनाशी। अविनाशी को नाशवान् कैसे संतुष्ट करेंगे? परन्तु वहम इतना विलक्षण पड़ा है—'राम राम राम'। कई बार भोगों को भोगकर देख लिया फिर भी उधर ही जाते हैं। अब क्या मन में रह गई? क्या बाकी रह गया? वहम है कि अब सुख हो जायगा। आप नये हो गये कि पदार्थ नये हो गये, कि रिवाज नया हो गया? क्या बात है? अभी तक चेत नहीं हुआ। समझदार आदमी चेत जाता है कि रास्ता ठीक नहीं है। जो गया, वह भी इस तरह से ही मार खाता है। जो गया, वो ही दु:ख पाया। अब उस मार्ग को तो छोड़ो भाई! अपने भी कर लिया। इतने दिन हो गये, इतने वर्ष हो गये। और कौनसा भोग नहीं भोगा? और फिर क्या मन में रह गई भगवान् ही जाने!

चेत होना चाहिये। छोटे–छोटे बच्चे होते हैं, तब उनके विचार होता है कि हम यह करेंगे वह करेंगे। बड़े होकर ऐसा धन कमायेंगे। तो आप लोग बड़े कब होंगे, जिस दिन भजन करेंगे? कब भगवान् में लगेंगे? कुछ बड़े हो जायं तो फिर करेंगे। अब कब बड़े होंगे? बताओ। मूर्खता रखते रखते ही मर जायेंगे वही बचपन, वही मूर्खता। तो ठाकुरजी में आप अपना मन लगा दो। सम्बन्ध जोड़दो, किसी रीति से जोड़ दो। ठाकुरजी के साथ जोड़लो। अब आप भगवान् को कुछ मान लो। कैसे ही मान लो। वैरी मान लो चाहे भयभीत हो जाओ। सम्बन्ध तो जोड़ो प्रभु के साथ!

भगवान् इतनी निगरानी रखते हैं जीव मात्र की। यह किसी के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है तो रहने नहीं देते। भगवान् तोड़ ही देंगे उसको। बालकपन के साथ रहे तो बालकपन तोड़ दिया। जवानी के साथ रहे तो जवानी तोड़ देंगे। वृद्धावस्था का साथ किया तो वृद्धावस्था तोड़ देंगे। रोगी–निरोगी अवस्था के सम्बन्ध को तोड़ देंगे। भगवान् कहते हैं कि मेरे को नहीं प्राप्त किया तो टिकने नहीं दूंगा तेरे को। तू चाहे कितना ही कुछ पकड़ ले, कितनी ही उछल कूद करे तो क्या होगा? यह सब परिस्थिती बदलती है तो यह भगवान् का आवाहन होता है कि इधर आओ, किधर जाते हो? ये सुनते ही नहीं। थोड़ा धन और कमा लें, थोड़ी विद्या और पढ़कर विद्वान् बन जायँ। वक्ता बन जायँ बढ़िया, लोग हमको वाह–वाह कहें। तो फंस जाओगे बाबा ज्यादा। क्या निकालोगे इसमें? पर वह भ्रम पड़ा हुआ है कि मौज हो जायेगी।

घर में चूहे बहुत हो जाते हैं तो तारों का बना हुआ पिंजरा होता है, उसमें रोटी केटुकड़े डालकर अंधेरे में रख देते हैं। चूहों को अन्न की सुगन्धि आती है तो वे देखते हैं कि रोटी उसमें पड़ी है, पर किस तरह से मिले? इधर उधर घूमते हैं। दरवाजा मिलते ही समझते हैं

आहा! निहाल हो गया मैं तो' वह भीतर में भार से नीचे उतरा और वह पत्ती स्प्रिंग से वापस बन्द हो जाती है। तो अब मुश्किल हो गई। अब निकलने का दरवाजा ढूँढ़ता है, पर मिलता नहीं। बाहर वाले चूहे देखते हैं कि यह मौज कर रहा है अकेला ही। हमारे को भी दरवाजा मिल जाय तो हम भी ऐसी मौज करें। अब दूसरा चला गया तो बाहर के बचे हुए देखते हैं कि इनको रस आ रहा है। आपस में एक से एक लूट रहे हैं तभी तो लड़ते हैं। यों कर के फंस जाते हैं। ऐसे ही संसार में देखते हैं कि धन कैस मिल जाय, हमारा विवाह कैसे हो जाय, हमारे बच्चे कैसे हो जाय? धन भी हो जाय, बच्चे भी हो जाय। जब ब्याह होने पर बच्चे होते हैं तो वह कहता है—अब तो हम फंस गसे, भाई। पर जिसका नहीं हुआ वह कहता हैं, मेरे ब्याह ही नहीं हुआ। अब वह यों ही रोता है।

जिसका ब्याह हो गया, वह मकान खोजता है। कलकत्ते जैसे शहर में अकेला तो कहीं गद्दी में सो जाय, पर स्त्री बच्चों को अब कहां रखे? मकान केलिये पगड़ी लाओ, मार आफत! दूसरा देखता है मैं तो अकेला रह गया और यह मौज करता है। बाल–बच्चे हैं इसके तो। कोई ताऊ–चाचा कहते हैं और चीं–पीं करते हैं इसके सामने, तो बड़ा आनन्द आता है कि हमारे इतने बच्चे हैं। बच्चों के बीच में बैठा राज़ी होता है जब कि वह दुःख पा रहा है। अब मुश्किल होगयी, पालें कैसे इनको? अब ज्यों छोरा बड़ा हो गया, ब्याह करो। छोरी बड़ी होगयी, उसका ब्याह करो। अब एक नई आफत और हो गई।

एक देश था, उस में रहने वाले चौबेजी महाराज ने सुना कि किसी देश में चौबे को छब्बे कहते हैं। तो वहाँ चलो हमारा नाम बढ़ जायगा। तो वे अपने गांव से निकले, दूसरा गांव आया, उसमें इनको दुब्बे कहने लगे,। **'चौबे होते छब्बे होने चले जब, होय दुब्बे**

दुय गांठ के खोये।' वहां दुब्वे हो गये। ऐसे विचार किया कि यहा यह सुख लेंगे, तो जो पहले सुख था, वह भी गया। स्त्री-बच्चे नहीं थे तब बड़ी आजादी थी, स्वतन्त्र थे, अब क्या करें? फंस गये। अब निकलना हो गया मुश्किल, मुश्किल कुछ नहीं है, स्वयं छोड़े तो कुछ मुश्किल नहीं है। चूहे के लिये तो तारों का पिंजरा दूजे का बनाया हुआ है, यह पिंजरा खुद का बनाया हुआ है। दूजे का बनाया हुआ तोड़ना मुश्किल है। यह तो अपना बनाया हुआ है, इस वास्ते चट तोड़ा, चट चल दिया। पर तोड नहीं सकते।

एक भौरा था। वह घूमते--घूमते कमल में जा बैठा। सुगन्ध आरही थी खूब। इधर सूर्य अस्त हो गया तो कमल बन्द हो गया। उसमें भौंरा विचार करता है कि हम बन्द हो गये अब। इसमें से निकलें कैसे? कमल को कैसे काटें? भौंरा बांस को काट देता है। बांस में छेद कर देता है। उसमें छेद बनाकर बच्चे देता है और भीतर रहता है। आप विचार करो, कमल की पंखुड़ी काटने में उसे जोर आता है क्या? परन्तु उससे सुगन्ध लेता है तो अब काटे कैसे? वह भौंरा सोचता है-'**रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।**' रात चली जायगी, बड़ा सुन्दर प्रभात हो जायगा। '**भास्वानुदेष्यति**' सूर्य भगवान् उदय होंगे और '**हसिष्यति पंकज श्रीः**'--यह कमल की शोभा खिल जायगी। फिर मर्जी आवे जहां बैठें, मर्जी आवे जहां जावें। फिर ठीक हो जायगा। '**इत्थंविचिन्तयति कोशगते द्विरेफे**'-वह बेचारा विचार कर रहा है कि यह हो जायगा, यह हो जायगा। इतने में ही हाथी आता है। पानी पीता है फिर सुंड से कमलों को ऐसे लपेटता है। उतने में वह तो मर जाता है। '**हाहन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार**'-- ऐसे ही मनुष्य कहता है, ऐसे करेंगे, ऐसे करेंगे। क्या करेंगे? राम नाम सत् है-यह तो आ ही जायगा।

सज्जनो! हम मृत्यु लोक में बैठे हैं। यहां मरने वाले रहते हैं सब। सब लोग मरने ही मरने वाले रहते हैं। इसमें निश्चिंत बैठे हैं। मरना सुनते हैं तो बुरा लगता है। मरने की बात बुरी लगती है। कोई कह दे तो, कहते हैं ना-ना मुँह से थूक। ऐसा मत बोलो। अब बोलो, चाहे मत बोलो, मरोगे तो सही। न बोलने से क्या रक्षा हो जायगी? खरगोश होता है न, तो जब शिकारी उसे मारने जाता है, तो वह छिपकर आंखें मीच लेता है। समझता है कि अब मेरे को कोई नहीं देखता; क्योंकि खुद को दीखता नहीं। आंखों को तू ने मीची है, दुनिया ने थोड़े ही मीच ली है, पर वह तो यही समझता है की अब थोड़े ही दीखूंगा मैं। ऐसे मनुष्य विचार करता है कि हमारा कौन कुछ करता है? आंखें तूने मीची है भाई! काल भगवान् ने मीची नहीं है, आंखें। ये सूर्य भगवान् सब को देखते हैं। देखने का काम ये करते हैं और ले जाने का काम इनके बेटा करते हैं। यमराज इनके बेटा है। सूर्य भगवान् देख लेते हैं, कौन कैसे-कैसे तैयार हुआ है। हाँ बेटा, उसे लेआओ। तैयार है, बस। अपने निश्चिन्त बैठे हैं, ऐसे नहीं सोचते कि वे हमारे को देख रहे हैं। छिप आप सकते नहीं। समय होने पर छोड़ेंगे नहीं।

'संतदास संसार में बडो कसाई काल।
राजा गिणे न बादशाह बूढ़ो गिणे न बाल।।'

न वह बूढ़े को गिनता है, न बालक को गिनता है। बादशाह, साधु सब एक समान, आ जाओ बस! आप कितने ही अच्छे पण्डित हो गये। बड़े अच्छे पण्डित हो, चाहे मूर्ख हो, यहां तो एक ही भाव है। हाँ! भगवान् के यहां सम्बन्ध हो जाता है तब तो

'भगवद्गीता किञ्चिदधीता, गंगाजल लवकणिका पीता।
येनाकारि मुरारेरर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चा।।

उनकी चर्चा यमराज छोड़ देते हैं कि ये हमारे नहीं है। उधर के

भाग के हैं, बाकी तो यमराज सब को ले जाय।

काल भक्ष सब को करे हरि शरणे डरपन्त।
नव ग्रह चौसठ जोगिनी बावन वीर बजन्त।।

'कालो यमो दण्डधरः' वह ले जायगा सबको। अब उसमें जाना तो पड़ेगा। कोई नहीं चाहता, पर वहां जा रहे हैं सब लोग। एक-एक श्वास में कहां जा रहे हैं? मौत के पास जा रहे हैं। यह श्वास खर्च होता है। मौत के पास जा रहे हैं। प्रति श्वास वहाँ जा रहे हैं, जहां जाना नहीं चाहते। नहीं चाहते हो तो भाई! भगवान् को याद करो। बिना भगवान् के कोई रक्षा करने वाला नहीं है। सब मरने वाले है, वे सक्षा कैसे करेंगे?

काठ की ओट से काठ बचे नहीं आग लगे तब दोऊँ कू जारे।
स्याल की ओट से स्याल बचे नहीं सिंह पड़े तब दोऊँ कू फारे।
आन की ओट से जीव बचे नहीं 'रज्जब' वेद पुराण पुकारे।।

सब कहते हैं भैया! दूसरों की सहायता से बच नहीं सकोगे। क्योंकि बेचारे वे सब माया बस काल के कलेवा हैं। उनका सहारा लो तो वह भी जा रहा है। तुम्हारे को कैसे बचायेगा? बचता वही है। **काल डरे अण घड़ सूं भाई ता सूं संतां सुरत लगाई। ता मूरत पर राम दास बार बार बलि जाय काल डरे अणघड़ सूं भाई।।** वह परमात्मा अनघड़ है। अजातु न मातु न तातु निराकारं। वह पैदा किया हुआ नहीं है, जाति नहीं है उसके न मां है, न बाप है-ऐसा है। वह रहेगा एक और तो सब चले जायेंगे इस वास्ते उसका आश्रय लो। उसके आश्रय का सुगम से सुगम उपाय ठाकुरजी अवतार लेकर कर देते हैं।

अब तुम जो कुछ करो तो हमारे साथ करो। राग करो, चाहे द्वेष करो। वैर करो, विरोध करो, लोभ करो, चाहे चिन्ता करो। मैया

यशोदा के बड़ी चिन्ता लगी कि 'लाला के क्या हो गया?' दाऊ भैया को कहती है—'तू निगाह रखा कर।' 'यह खेलने को जाता है तो चंचल बहुत है यह।' वह दाऊ आकर कहता है-'मैया! क्या करूँ? यह यमुना में चला जाता है। पानी में कहीं डूब जायगा। खेलता-खेलता कहीं जाकर बिल में हाथ दे देता है। सांप काट जाय तो!' दाऊ दादा निगह बहुत रखते हैं फिर भी वह तो चंचल बहुत है। अब दाऊ दादा, रोहिणी और यशोदा मैया, सब मिलकर भी रक्षा नहीं कर पाते। इतना चंचल है। बाल मुकुन्द है यह मन है आपके पास। यह चंचल हो तो देखो-ये बाल मुकुन्द खेल कर रहे हैं। 'अरे! लाला! क्या करता है?' खेल करता है, बाल मुकुन्द है।' ऐसा मान लो तो फिर मन को जावे तो जाने दो। 'अरे लाला! ऐसे मत करो।' वो तो कहे—'खेलेंगे।' 'अच्छी बात है, खेलो।' जहां भगवान् को समझा, कि मन की सब उछल कूद मिट जायगी असली तत्त्व को समझ गये न!

भगवान् ही तो हैं उसके भीतर भी। ऊपर से कहते हैं मन है, इन्द्रियां हैं, पदार्थ हैं, भोग हैं, विषय हैं,। अरे भैया! भीतर वह एक ही है। वह है, उसे मान लो। चाहे तो भगवान् का मान कर भजन कर लो। चाहे संसार में भगवान् को मानकर भजन कर लो। आपकी मर्जी आवे सो करो। दोनों का टोटल एक ही निकलेगा। हमारे प्रभु ही तो हैं। 'अनेकरूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे' इस वास्ते 'तस्मिन्नेव करणीयम्।' केवल आनन्द ही आनन्द!

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

अविनाशी बीज

२६–१०–८२ बम्बई

उपनिषदों में आता है कि जैसे सोने से बने हुए सब गहनों में सोना ही होता है, मिट्टी से बने हुए सब बर्तनों में मिट्टी ही होती है। लोहे से बने हुए सब अस्त्र–शस्त्रों में लोहा ही होता है। गीता में भी आया है कि सम्पूर्ण जगत का प्रभव तथा प्रलय मैं ही हूँ। 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (गी. ७/६)। गीता में सोना, मिट्टी, तथा लोहा, इनके उदाहरण तो नहीं दिये गये हैं, किन्तु बीज का दृष्टान्त दिया है कि सम्पूर्ण जगत् का बीज मैं हूँ। बीजके साथ 'सनातनः' विशेषण दिया, मानो अनादि बीज मैं हूँ–**'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'** (गी. ७/१०)। गी. ९/१८ में कहा 'अविनाशी बीज मैं हूँ 'बीजमव्ययम्'। गी. १०/३९ में कहा–'संसारमें जड़-चेतन, स्थवार-जंगम यावन्मात्र वस्तु है, उन सबका बीज मैं हूँ–**'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन'**।

बीजमात्र वृक्षसे पैदा होते हैं, और वृक्ष को पैदा करके स्वयं बीज नष्ट होजाता है, मानो बीज से अंकुर निकल आता है, और वृक्ष रूप हो जाता है और वह बीज स्वयं खतम हो जाता है; परन्तु गीता में भगवान् अपने को संसार मात्रका बीज कहते हुए भी यह एक विलक्षण बात बताते हैं कि मैं बीज हूँ, पर अनादि बीज हूँ, पैदा हुआ हुआ बीज नहीं हूँ-'बीजमव्ययम्'। अव्यय बीज कहनेका

मतलब है कि संसार मेरे से पैदा हो जाता है; परन्तु मैं जैसाका तैसा ही रहता हूँ, साधारण बीज की तरह मैं मिटता नहीं हूँ। गीता १०/२० में जहाँ भगवान् विभूतियोंका वर्णन आरम्भ करते हैं वहाँ भगवान् कहते हैं कि मैं ही सबका आत्मा हूँ—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' और सबके हृदय में मैं ही स्थित हूँ'—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गी. १५/१५); '**हृदि सर्वस्य विष्टितम्**' (गी. १३/१७); '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गी. १८/६१); यह कहनेका अर्थ हुआ कि संसारका कारण मैं ही हूँ; सब संसार मिटने पर मैं ही रहता हूँ, संसार के रहते हुए भी मैं सबमें परिपूर्ण हूँ और सबके हृदय में विराजमान हूँ। इससे 'सब कुछ परमात्मा ही हैं, यह सिद्ध हुआ।

सोना, मिट्टी और लोहेका जहाँ उदाहरण दिया है, वहाँ गहनों में सोना दीखता है, बर्तनों में मिट्टी दीखती है और अस्त्र—शस्त्रों में लोहा दीखता है, पर इस तरह से संसारमें परमात्मा नहीं दीखते हैं। वृक्ष में बीज दीखता नहीं, पर बीज के आने पर ऐसा पता लगता है कि इस वृक्षमें ऐसा बीज है, और ऐसे बीजसे यह वृक्ष पैदा हुआ है। सम्पूर्ण वृक्ष बीज से ही निकलता है और बीज में ही समाप्त हो जाता है। आरम्भ बीजसे होता है और अन्त बीज में ही होता है, अर्थात् वह वृक्ष चाहे सौ वर्ष तक रहे, पर उसकी अन्तिम परिणति बीज में ही होगी। बीजके सिवाय और क्या होगा? ऐसे ही भगवान् संसार के बीज हैं अर्थात् भगवान् से ही संसारकी उत्पत्ति होती है और भगवान् में ही लीन हो जाता है तो अन्तमें एक भगवान् ही बाकी रहते हैं-'शिष्यते शेषसंज्ञः'॥

वृक्ष दीखते हुए भी बीज ही हैं—ऐसा जो जानते हैं, वे वृक्षको ठीक जानते हैं। जो बीजको न देखकर केवल वृक्षको देखते हैं, वे वृक्षके तत्त्वको नहीं जानते, क्योंकि वे तो वृक्ष की टहनियाँ है, पत्ते

हैं, फूल हैं, इनमें लुब्ध हो जाते हैं, ऐसे मनुष्यों को भगवान् ने **'यामिमां पुष्पितां वाचम्'** (गी. २/४२) और **'छन्दांसि यस्य पर्णानि'** (गी. १५/१) वचन कहे हैं। इसी तरहसे भगवान् यहाँ 'बीजं मां सर्वभूतानाम्' कहकर सबको यह याद कराते हैं कि तुम्हारे को जितना यह संसार दीखता है, इसके पहले केवल मैं ही था 'एकोऽहं बहु:स्यां प्रजायेयं'—एक मैं ही प्रजारूपसे प्रकट हो गया हूँ और इसके समाप्त होने पर मैं ही रह जाता हूँ अर्थात् पहले मैं हीथा और पीछे मैं ही रहता हूँ, बीचमें भी मैं ही हूँ।

जैसे बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, बीज ही वृक्षरूप से दीखता है, पर बीज नहीं दीखता। इसी तरह से यह संसार पाँच भौतिक दीखता है। जो विचार करते हैं, उनको भी पांच भौतिक दीखता है नहीं तो पांच भौतिक भी नहीं दीखता। जैसे कोई कह दे कि ये अपने शरीर सब के सब पार्थिव शरीर हैं—ये शरीर पृथ्वीसे पैदा होने वाले हैं: क्यों कि इनमें मिट्टीकी प्रधानता है, दूसरा कोई कहेगा कि ये मिट्टी कैसे हैं? मिट्टीमे तो हाथ धोते हैं, इसवास्ते ये शरीर मिट्टी नहीं है। शरीर मिट्टी का होते हुए भी जरा भी मिट्टी का नहीं दीखता; परन्तु यह जितना संसार दीखता है, इसको जलाकर राख कर दिया जाय तो अन्तमें एक चीज़ हो जाती है।

इन शरीरों के मूलमें क्या है? माँ—बाप से यह शरीर पैदा होता है। मां—बाप के रज—वीर्य से शरीर बनता है। वह अन्न अंशसे पैदा होता है, अन्न मिट्टी से पैदा होता है, इस प्रकार यह शरीर मिट्टी से पैदा होता है और अन्तमें मिट्टीमें ही लीन हो जाता है। इसको जलानेपर राख हो जायगा, गाड़ दे तो मिट्टी हो जायगा, या पशु—पक्षी खा जायेंगे तो भी विष्ठा बनकर मिट्टी हो जायगा—ये तीन गतियां ही होती है। इस तरह से शरीर अन्त में मिट्टी हो जाता है। पहले भी मिट्टी था; परन्तु यह शरीर-संसार देखने से मिट्टी नहीं

दीखता। विचार करनेसे यह मिट्टी दीखता हैं, आंखों से नहीं दीखता। इसी तरह से यह संसार परमात्मा का स्वरूप नहीं दीखता। विचार करने से पता लगता है कि भगवान् ने यह संसार रचा तो कहीं और जगहसे कोई सामान नहीं मंगवाया। कहीं से कोई बिल्टी नहीं आई, जिससे कि यह संसार बनाया हो। बनानें वाला भी दूसरा नहीं हुआ। आप स्वयं संसार बनानेवाले और आप ही स्वयं संसार बन गये। शरीरोंकी रचना करके आप स्वयं उनमें प्रवेश हो गये। इन शरीरोंमें जीवरूपसे वे परमात्मा ही हैं, यह संसार परमात्माका स्वरूप ही है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'।

'यह सब संसार परमात्म-तत्त्व है'—पहले हम इस बातको शास्त्रोंसे समझकर मान लें, अगाड़ी परमात्मा दीखने लग जायेंगे। गीताने इसीको ज्ञान कहा है। ठीक तत्त्वसे जान लेने पर अनुभव हो जाता है। संसार दीखता है, पर वास्तव में यह है परमात्मा ही। ऐसा बोध होने पर वह महात्मा कहलाता है। जिसकी दृष्टि में सब कुछ वासुदेव हैं, वह महात्मा दुर्लभ है—'**वासुदेवःसर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (गी. ७/१९)। अब कोई कहे कि हम पहले कैसे मानलें जब तक हमारेको बिल्कुल शरीर मिट्टी, मकान आदि अलग अलग चीजें दीखती है? इसको ऐसे मानें कि आदि-अन्तमें जो रहेगा, वही मध्यमें होगा और बीचमें भी वही चीज़ होगी। ऐसे ही संसार के आदि में परमात्मा थे, अन्तमें परमात्मा रहेंगे, बीचमें संसार रूप से परमात्मा ही दीख रहे हैं। तत्त्व से देखा जाय तो परमात्मा के सिवाय और क्या है? इस संसार के स्वांग में आने से परमात्मा असली रूपमें नहीं दीखते, संसार रूप स्वांग दीखता है।

ध्यान देने की एक विचित्र बात यह है कि परमात्मा नित्य निरन्तर रहते हैं, कभी बदलते नहीं, कभी मिटते नहीं; परन्तु

संसार कभी एक रूपसे नहीं रहता। जिस दिन शरीर जन्मे, उस दिन ऐसे नहीं थे। जन्मके पांच-दस दिन के बाद शरीर को देखा हो दो-चार वर्ष के बाद देखा हो और आज देखे तो पहचान नहीं सकते, इतना बदल जाता है। वह प्रत्येक वर्ष में बदलता है, प्रत्येक महिने में बदलता है, प्रत्येक घण्टे में प्रत्येक मिनट में, प्रत्येक सेकण्ड़ में बदलता है। बदलने-बदलने का नाम ही शरीर है। संसार और कुछ नहीं है, यह बदले बिना रहता ही नहीं, परमात्मा कभी बदलते ही नहीं। यह प्रश्न है कि परमात्मा होते हुए दीखते क्यों नहीं? वास्तव में जिस (संसार) को 'है' मानते है, वह परमात्मा ही है, पर संसार है रूपसे दीखता है।

जासु सत्यता ते जाड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।

जिस (परमात्मा) की सत्यतासे संसार सत्य की तरह दीखता है। मूढ़ता की सहायता से यह सच्चा दीखता है, मूढता चली जाय तो यह सच्चा नहीं दीखेगा, प्रत्युत परमात्मा ही सच्चे दीखेंगे। इस संसारमें 'है' रूप से परमात्मा सच्चे हैं, संसार सच्चा नहीं है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष बदलता है, जन्मता-मरता है। यह प्रत्यक्ष बात है। यह बदलता हुआ दीखने पर भी है वही परमात्मा। ऐसा विश्वास करके भजन–स्मरण करने से, जप-ध्यान करनेसे, परमात्मा की तरफ सन्मुख हो जाने से, अन्त में वे परमात्मा ही रह जाते हैं। परमात्मा को ठीक जानने वाले ही तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हैं जो कि परमात्म तत्त्वको जान लेते हैं। इसवास्ते ऐसा मानकर भगवान् के भजन में निरन्तर लग जाना चाहिए। यह सार बात है।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

सबमें भगवद्दर्शन

११-६-८३.

गीताभवन
स्वर्गाश्रम

परमात्मा सब में परिपूर्ण हैं, थोड़ा इस तरफ आप ध्यान दें, जैसे छोटे बालक होते हैं, उनको रंग प्यारा लगता है, लाल, पीला, हरा, ऐसे रंग-रंग के कपड़े हो, काच हो, विभिन्न रंग की कोई भी वस्तु हो तो वे आकृष्ट हो जाते हैं, अच्छा लगता है, खिलौनों की आकृतियां है, ये उनको बहुत अच्छी लगती हैं। इसमें सार क्या है? ग्राह्य क्या है? त्याज्य क्या है? यह बुद्धि नहीं होती। देखने का आकर्षण होता है विशेषता से। बड़ी अवस्था होने पर वे उनका मूल्य समझते है, कि कीमती क्या है? कम मूल्य वाली क्या है? ज्यादा मूल्य वाली चीज़ क्या है? ऐसा समझते हैं।

इसका अर्थ क्या हुआ? जो भोली अवस्था होती है, भोलापन होता है, वह ऊपर-ऊपर की चीज देखता है और जितना समझता है, वह गहरी रीति से देखता है। संसार का लोभ लग जाता है तो वह रुपयों को गहरी रीति से देखता है। बस रुपये ही सार है; क्योंकि इनसे ही सब चीज़ आती है तो वह रुपयों की तरफ आकृष्ट होता है। बालक खिलौनों पर आकृष्ट होता है। जैसे संसार की वस्तुएँ रुपयों से मिलती है तो वह रुपयों को ही मुख्य मानता है ऐसे ही उस परमात्म-तत्त्व को जानने की इच्छा करके इधर चलने वाला सबमें परमात्म-तत्त्व की ओर ही जाता है।

स्थूल से स्थूल जो चीज दीखती है ,उस चीज के मूल में भी परमात्मा है, सुन्दर से सुन्दर चीज दीखती है उसमें भी वह सुन्दरता पर नहीं अटकता है और सुन्दरता में भी 'यह सुन्दरता आई कहां से है'। ऐसे परमात्मा को देखता है। सुन्दर खिले हुए फूल देखता है, सुन्दर बगीचा देखता है तो फूलों पर न अटक करके वो अटकता है कि यह सुन्दरता इनमें कहां से भरी गयी। कहां से आई यह सुन्दरता! इनमें परमात्मा हैं। ऐसे कहीं महत्ता देखता है, बड़प्पन देखता है, राजा-महाराजा, संत—महात्मा या किसी मिनिस्टर को देखता है यह बड़प्पन कहां से आया है तो वह बड़प्पन परमात्म-तत्त्व का देखता है। वो जितना जहां विचार आता है, वहाँ उस परमात्म-तत्त्व को देखता है

अर्जुन जब विराट रूप को देखने लगे हैं तो विराट रूप है, वो बड़ा विलक्षण है। उसमें हमारे एक शंका हुई? अर्जुन ने विराट रूप के लिए कहा कि महाराज! 'दर्शयात्मानमव्ययम्' आपके अविनाशी रूप को दीखाईये। 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमै श्वरम्'। आपका ईश्वर सम्बन्धी रूप देखना चाहता हूँ और अविनाशी रूप देखना चाहता हूँ और विश्व रूप देखना चाहता हूँ। 'पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप'। आप विश्व रूप और विश्वेश्वर हो।

अब आप थोड़ा ध्यान दें कि अगर संसार रूप देखा जाय तो संसार रूप अव्यय नहीं है। मानो निर्विकार नहीं है, हर दम विकृति होती रहती है। हरदम ही बदलता रहता है। संसार हरदम बदलता है किसी क्षण भी बदले बिना नहीं रहता। विश्वरूप है तो अव्यय कैसे? और अव्यय है तो फिर भगवान् का स्वरूप कैसे? यह एक पंचायती पड़ गयी। तात्पर्य क्या है? कि हम लोग देखते हैं विराट को जो कि भगवत् स्वरूप है। जब तक अपने में व्यक्तित्व है और जब तक राग है, तब तक इस संसार को भेदन करके

परमात्म-तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते। जैसे बालक रंग पर, खिलौनों पर, आकृतियों पर, खेल पर ही राजी हो जाता है, वो इसका सार वस्तुओं तथा रुपयों तक नहीं पहुंच सकता कि रुपया चीज सार है, वो पहुंचता ही नहीं। वो खिलौने ही खिलौने देखता है, उसे बढ़िया दीखते हैं।

इस तरह जब तक इन नश्वर पदार्थों में राग है, आकर्षण है, प्रियता है, इसका मूल्य जब तक समझते हैं, तब तक इस परमात्म स्वरूप को देखते हुए भी परमात्मा को नहीं जान सकते। खिलौनो पर ही रखी है वृत्ति। विराटरूप का वर्णन किया जाय, दिव्य विभूतियों का वर्णन किया जाय, भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया जाय तो परमात्म-तत्त्व तक वृति नहीं पहूँचेगी। कारण कि राग है न पदार्थों पर आसक्ति है, प्रियता है भोगों पर, तो यह एक चीज़बैठी है, अपने में एक व्यक्तित्व है और अगाड़ी संसार में राग है, तब तक यह देखते हुए भी उस अविनाशी रूप को नहीं देख सकता। अर्जुन को भगवान् ने अविनाशी रूप दीखाया। अब अविनाशी रूप दिखाया तो अर्जुन से कहा **'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः**। मेरे रूपों को देख, सैंकड़ो—हजारों रूपो को देख। ऐसे भगवान् ने कहदिया और अर्जुन को वहाँ देख, देख ऐसे पांचबार 'पश्य' कहा है पर अर्जुन को दीखता नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् प्रगट रूप से हो गये हैं तू देख तूदेख; परन्तु दिखा नहीं, देख सका नहीं। तब भगवान् ने कहा **'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा'** अपनी इन आँख से मुझे नहीं देख सकता **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** तुम्हारे को मैं दिव्य चक्षु देता हूँ। इन दिव्य चक्षुओं से मुझे देख। तो भगवान् ने अर्जुन की जो देखने की शक्ति हम लोगों जैसी है, इस शक्ति में एक विलक्षण दिव्य शक्ति दे दी, जिससे दिव्य देवता दिख सके। दिव्य लोक दीख सके। दिव्य स्वरूप

भगवान् का दीख सके। ऐसे दिव्य तत्त्व देखने के लिए दिव्य दृष्टी भगवान् ने दी।

एक कथा याद आ गयी। रघुवंश में आती है कथा। जब महाराज दिलिप अश्वमेध यज्ञ करने लगे हैं। तो अश्वमेध यज्ञ में घोड़ा एक रखा जाता है, जो सब जगह घूमाते हैं और वे सब पराजीत हो गये ऐसे माना जाता है। कोई लड़ाई करे तो घोड़े को पकड़े। ऐसे घोड़े को लेकर महाराज दिलिप ने निनानवें यज्ञ कर दिये। अब सौवां यज्ञ होने लगा, उसमें वो घोड़ा घूमने को गया तो इन्द्र ने घोड़े को चुरा लिया। इन्द्रं ने चुराया तो क्या किया कि जैसे इन्द्र नहीं दीखता है, वैसे घोड़ा भी नहीं दीखा अचानक ही अन्त र्धान हो गया, दीखता ही नहीं। देवता अपनी मर्जी आवे तो अपने को दीख सकते हैं, नहीं तो यहां घूमते हुए भी दीखते नहीं। तो दीखा नहीं घोड़ा। अचानक ऐसा हो गया तो बड़े व्याकुल हो गये कि अब क्या करें? घोड़ा कहां गया? घोड़ा कहां गया। उस समय में नन्दनी गऊ प्रकट हुई। जिस गऊ के बरदान से रघु का जन्म हुआ है।वह गाय प्रगट हो गयी सामने। गाय प्रगट हुई और गऊ मूत्र करने लगी और गोबर करने लगी। गऊ का गोमूत्र गंगाजी माना जाता है। बड़ा पवित्र माना जाता है। तो गऊमूत्र को देखकर रघुने चट उसको लिया और अपने नेत्रों के लगाया, सिर पर चढ़ाया। ज्यों ही नेत्रों के लगाया त्योंही इन्द्र दीखने लग गया। इन्द्र घोड़ा लेकर जा रहा है साफ-साफ दीखने लग गया तो क्या दृष्टी हुई? कि वो जो नन्दनी गऊमाता है, उसके गऊ-मूत्र से उसकी दृष्टी में दिव्य दृष्टी आ गयी, विलक्षणता आगयी, जिससे रघु को इन्द्र दीखने लगा। वो दीखने लगा तब रघु बोला है तुम बिना रघु के साथ युद्ध किये कृत कृत्य नहीं हो सकते तुम कैसे घोड़ा ले जारहे हो? ऐसे बात कही, मैं शस्त्र तैय़ार करता हूँ। तुम्हारा ऐसा ही विचार है तो 'गृहाण

'शस्त्रम्' इन्द्र! तुम हाथ में शस्त्र लेलो। मैं निःशस्त्र पर शस्त्र नहीं उठाता। तुम शस्त्र उठालो फिर मैं भी शस्त्र चलाता हूँ। ऐसा कहकर उसने युद्ध किया। युद्ध ऐसा जोरदार किया कि इंद्र को हरादिया। तब वह इंद्र कहता है कि देखो, संसार में मेरे को शतक्रृतु कहते हैं। शतक्रृतु का अर्थ है कि सौ यज्ञ करने वाला, तो सौ यज्ञ करने वाला मैं एक ही हूँ। और तुम्हारा पिता मेरी ही मर्यादा भंग करके सौ यज्ञ कर रहा है। दो शतक्रृतु हो जायेंगे। इस वास्ते में दूसरा शतक्रृतु नहीं चाहता।

भगवान् का नाम ही पुरुषोत्तम है और कोई पुरुषोत्तम नहीं हो सकता। त्र्यम्बक एक भगवान् शंकर ही है और नहीं हो सकता। इसी तरह मुझे शतक्रृतु कहते हैं। मेरे को छोड़कर दूसरा शतक्रृतु नहीं हो सकता। इस वास्ते यह यज्ञ मैं पूरा नहीं होने दूँगा। घोड़ा मैं ले जाऊंगा। ऐसा कहकर उसने युद्ध किया तो युद्ध करने में इन्द्र हार गया, तब भी उसने जिद्द किया तब रघु ने इन्द्र से कहा कि कोई बात नहीं; परन्तु मेरे पिता के सौ यज्ञ पूरे होने चाहिये। सौ यज्ञ में किसी प्रकार की कमी नहीं होनी चाहिये। यज्ञ तुम नहीं करने देते तो नहीं करने दो; परन्तु सौ यज्ञ का माहात्म्य पूरा होना चाहिये। उसमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रहनी चाहिये। नहीं तो लड़ो मेरे से। ऐसा कहा तो कहा ठीक है, वरदान दे दिया कि तुम्हारे पिता को सौ यज्ञ का पूरा माहात्य हो जायगा। तब रघु बोला मेरी एक और बात है, तुम्हारा आदमी यहां से जाकर मेरे पिताजी को कह दे कि इन्द्र ने ऐसा वरदान दिया है, सौ यज्ञ आपका हो जायगा। ऐसा वो जाकर समाचार कहे, नहीं तो मैं नहीं जांऊगा, विना घोड़े को लिए। तब इन्द्र के आदमी ने जाकर क़हा।

अभी यह कथा यों याद आ गयी कि यह एक दिव्य दृष्टि होती है दिव्य दृष्टि से सब चीज दीखने लग जाती है। अर्जुन को ऐसी दिव्य

दृष्टि दी है। उस दिव्य दृष्टि से भगवान् का अविनाशी रूप दीखने लगा। तो भगवान् का यह विराट रूप है। 'यह' संसार नहीं है, यह तो बदलता है प्रतिक्षण; परन्तु इसमें जो भगवान् है स्वयं, वो बदलते नहीं है। वो विराट रूप में परमात्मा 'है' साक्षात्। अब उस साक्षात परमात्मा को साक्षात दृष्टि वाला ही देख सकता है। दूसरा देखेगा तो विराट रूप सुन लेगा; परन्तु देखेगा संसार रूप से ही। जब भीतर, पदार्थों का भोगों का राग पड़ा है, रुपये, पैसो, पदार्थों आदि का महत्त्व पड़ा है, मान बड़ाई आदि का महत्त्व पड़ा है। यह जब तक पड़ा है, तब तक वो दृष्टि खुलती नहीं, जो इसको परमात्मा का स्वरूप दिख सके। देख नहीं सकता। आड़ वहीं आ जाती है। जैसे बच्चा खिलौनों में अटक जाता है, रुपयों तक देख नहीं सकता, रुपया भी कोई चीज है नहीं देख सकता। ऐसे परमात्म-तत्त्व है, नहीं देख सकता है वह। ऐसे ही रुपयों आदि के महत्त्व में फंसा हुआ, जो परमात्म-तत्त्व है सब जगह परिपूर्ण इन विराट रूप में, उस परमात्म रूप को नहीं देख सकता। उसकी दृष्टी संसार में ही उलझी रहती है। बड़ा आश्चर्य है कि दिव्य रूप भगवान् का बताया, अव्यय रूप बताया, और विराट रूप दिखाया, उसके विशेषण आये हैं ये।

विचार आया कि बात क्या है ये! तो बात यह हुई कि उस रूप को देख नहीं सकते, जब तक संसार का रूप दीखेगा, जब तक इस का आकर्षण रहेगा, प्रियता रहेगी, तब तक उस तत्त्व को जान नहीं सकता। इस वास्ते वैराग्य के बिना उस को समझ नहीं सकता। तो क्या करें 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्यो ।़ि' तो जहां विलक्षणता दीखे, वहां भगवान् का चिन्तन करे।

अब आप ध्यान देकर सुनें। अब एक बात बताता हूँ अपने काम की। आप को कोई भी सुन्दर रूप दीखे। बहुत सुन्दर दीखे तो उस

रूप पर दृष्टि न रखकर के कि भाई, यह सुन्दरता कहां से आई? यह आई हुई सुन्दरता है। क्या पहचान है कि आई हुई है? अगर इसकी यह सुन्दरता होती तो हरदम रहनी चाहिये। जैसे नये खिले हुए फूल की सुन्दरता रहती है दो-तीन दिनों के बाद वह सुन्दरता रहती है क्या? ऐसे स्वाद है, सुन्दरता है, शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गन्ध है जितने जो विषय है, जिनमें मनुष्य का आकर्षण होता है। क्या वे विषय पहले वहां इतने सुन्दर थे, और क्या वैसे रहेगें। तो वह सुन्दरता उसकी नहीं है, उसमें आई हुई है। और जिसमे आई है, वो नित्य-सौन्दर्य है वहां, नित्य-ऐश्वर्य है, नित्य-माधुर्य है। परमात्मा के गुण विलक्षण हैं और दिव्य हैं, अलौकिक और नित्य हैं। उनकी आभा की ये झलक आती है संसार में। हम इन्द्रियों के आकर्षण से उसमें उलझ जाते हैं। वो वास्तव में तत्त्व नहीं है। उनके भीतर जो भरा हुआ है वही तत्त्व है। उसी की आभा आती है।तो जहां कहीं भी महत्ता दीखे, श्रेष्ठता दीखे, बलवत्ता दीखे, विलक्षणता दीखे, विचित्रता दीखे, वहां उन चीजों की कभी भी नहीं माननी चहिये। वहां ऐसा मानें कि आई हुई है इनमें, है नहीं इनमें। जीवन दीखता है, जीते हुए मनुष्य विलक्षण दीखते हैं तो भगवान् कहते है **'भूतानामस्मि चेतना'** (गी. १०/२२) वो चेतना मेरी है। इसी का नाम विभूतियां है। भगवान् ने विभूतियां बतायी है तो तुम इस संसार को मत देखो। इनमें जो कुछ सार चीज है, असली चीज है। वह मेरा स्वरूप है।

अलौकिकता दीखते ही परमात्मा की ओर वृत्ति जानी चाहिये अचानक, कि यह विलक्षणता दूसरी आ नहीं सकती, इन हाड-मांस में हो नहीं सकती इन चीजों में हो नहीं सकती। बहुत विचित्र व्याख्यान हुआ। बहुत विचित्र शास्त्र का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में भी विभूति उस परमात्मा की ही है। उस विचित्र व्याख्यान में भी उस परमात्मा की ही विभूति है। विचित्र विवेचन में भी

परमात्मा की विभूति है। विचित्र प्रसन्नता होती है, आनन्द होता है, कीर्तन करते हैं उसमें विलक्षणता आती है, वो विलक्षणता उस परमात्मा की होती है। जहां कहीं आपको विलक्षणता दीखे, आकर्षण दीखे। वहां संसार में न अटक कर के उस के मूल में परमात्म-तत्त्व की ओर हमारी वृत्ति जोरदार जानी चाहिये। तब उस परमात्मा को पहिचान सकेगें और इसमें उलझ गये, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में, संसार में तो परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। क्यों कि हम तो यहां नकली में ही उलझ गये, यहां ही फंस गये। तो इसमें न फंस करके, उस परमात्म-तत्त्व की और वृत्ति जावे। यही विभूतियों का अर्थ है, यही विश्वरूप का अर्थ है। उस परमात्म-तत्त्व को ठीक-ठीक तरह से जानना चाहिये। सबमें वह परमात्मा परिपूर्ण है। सब देश में है, सब काल में है, सब वस्तु में हैं, सब कोई व्यक्तियों में है, सम्पूर्ण घटनाओं में है: परन्तु देखने वाला इन घटनाओं में, परिस्थितियों में, वस्तुओं में, व्यक्तियों में, इन क्रियाओ में उलझे नहीं और उसको देखे तो वह दीखेगा। और इन में उलझ जावोगे तो वह नहीं दीखेगा। यहीं फंस जायगा।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

गृहस्थ में लोक-परलोक सुधार

गोविन्द भवन
कलकत्ता

१७–२–८३.

प्रश्न :-हम गृहस्थाश्रम में रहते हैं, उसमें बहुत उलझनें रहती है। उसमें रहते हुए हम लोक और परलोक कैसे सुधार लें ?

आप ध्यान दें मेरी बातों पर। हम लोगों की यह धारणा है कि गृहस्थमें बाहर के बहुत काम रहनेसे, बहुत झंझट रहनेसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। बाहर के सब झंझट मिट जायं तो हम परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। इस विषयमें विचार करने से यह बात मालूम देती है कि बाहर के काम धन्धों से बन्धन नहीं है। भीतर जो संसार को अपना मान लिया और अपने को संसार का मान लिया, यही बन्धन है। जहाँसे बन्धन होता है, वहाँ से ही मुक्ति होती है। संसार के साथ तो हमारा सम्बन्ध है और परमात्मा से तो परमात्मा का भजन करके सम्बन्ध जोड़ेंगे, यह धारणा गलत है। भगवान्‌से हमारा सम्बन्ध वास्तविक है और संसार से हमारा सम्बन्ध जोड़ा हुआ है। इसको अपना न मानें और भगवान् को अपना मानें। भगवान् अपने हैं-ऐसा अगर हम मान लें और जान लें तब तो फिर कहना ही क्या है? पर अभी मान भी लें तो फिर गृहस्थाश्रम में रहते हुए यह काम-धन्धा झंझट नहीं लगेगा। गृहस्थ के काम को आप बन्धन मानते हैं, जब कि यह बन्धन नहीं है।

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।(गी. २/ ३८)।।

भगवान् ने युद्ध के आरम्भमें अर्जुनको गीता सुनायी, उसमें बताया कि जय-पराजय, हानि-लाभ, और सुख-दुःख इनको समान समझ करके फिर तुम युद्ध करो, तुमको पाप नहीं लगेगा। आपके गृहस्थ का कर्म युद्ध जैसा क्रूर नहीं है। युद्ध में तो दिन भर लोगोंका गला काटना पड़ता है। मनुष्यों को मारना पड़ता है। ऐसे काम से भी तुम्हें पाप नहीं लगेगा। कब? जब जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर युद्ध करोगे तब। हम संसारकी उन्नतिको उन्नति और संसार की अवनति को अवनति मानेंगे, तब तो यह समता नहीं होगी। संसार के लाभको हम लाभ मानेंगे और संसारकी हानि को हम हानि मानेंगे, तब तक समता नहीं आयेगी। गृहस्थ में ही क्या? अगर साधु में भी ऐसी इच्छा हो कि अपने सम्प्रदायका प्रचार अच्छा हो जाय, लोग हमारेको आदर दें लोग हमारे को अच्छा मानें, हम आरामसे रहें, तब तो वह साधु गृहस्थ से किसी दर्जे में कम नहीं है।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भीतर से यह भाव रहे कि मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं। भगवान्का ही यह कुटुम्ब है और इसके पालन की जिम्मेवारी मेरे पर है, पर ये मेरे नहीं हैं, और मैं इनका नहीं हूँ। इनके पालन-पोषणकी जिम्मेवारी मेरी है और यह काम मेरे को करना है, ऐसे समझकर जो गृहस्थ में काम करता है तो वह काम करता हुआ भी बँधता नहीं; क्यों कि बन्धन काम-धन्धेमें नहीं है, व्यक्तियों में नहीं है, वस्तुओंमें नहीं है। अपने आपके भीतर बन्धन है, जो कि इनमें आपने अहंता और ममता की है। संसारमात्रका छोटासा अंग शरीर को मैं मान लिया अर्थात् अपने को शरीर मानने लग गया 'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच

रचित यह अधम शरीरा'।। पाँच भूतोंसे रचा हुआ यह संसार है। इसका छोटा सा टुकड़ा यह शरीर, इसको आपने मैं मान लिया और इस संसार के कुछ व्यक्तियों में, वस्तुओं में कर लिया मेरापन। यह मैं और मेरापन है बन्धन!

मैं मेरेकी जेवड़ी, गल बन्ध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बन्धे जाके राम आधार।।

मेरा मानना ही है तो मात्र संसार को मेरा मान लो। फिर मात्रं संसार की सेवा करो तो मुक्ति हो जाय और इन सबमें मैं हूँ ऐसा मान लो तो मुक्ति हो जाय।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः।।(गी. ६/२९)

अपनेको रख लिया संसारमें, मानो शरीर में और शरीर को रख लिया अपने में। अपनेमें शरीरको रख लिया, यह हो गई अहंता और अपनेको संसार में रख लिया यह हो गयी ममता और 'निर्ममो निरहंकारः सशांतिमधिगच्छति (गी. २/७१) यह अहंता और ममता छोड़नी पड़ेगी। कोई गृहस्थमें रहे, चाहे साधु आश्रम में रहे। काम धन्धा थोड़ा रहे चाहे ज्यादा रहे। छोटेसे अंश को अपना मान लिया न अब चाहे साधु बनो, चाहे गृहस्थ बनो, बन्धन हो गया, इसमें गृहस्थ और साधुका भेद नहीं है। इस विभागसे विशेष लाभ हो जाय, यह बात नहीं। साधुको थोड़ा समय अधिक मिल सकता है, अगर वह चाहे तो। और यदि साधु भी इसी काम धन्धे में लगा हुआहै तो उसको भी वक्त नहीं मिलता।

आप विचार कर देखो, आपके एक गांव में एक घर में, काम-धन्धा रहता है तो उसका बन्धन रहता है। मेरे बहुत से गांव हैं बहुत से घर हैं और बहुत से मनुष्य मेरे परिचित हैं तथा वे सब

मेरे से आशा रखते हैं, आपके गृहस्थ में इतना बन्धन नहीं है। अगर घर गृहस्थ में बन्धन हो तो मेरे बहुत बड़ा बन्धन होना चाहिए। और होगा ही हमारे बन्धन, अगर उनको अपने लिये मानें तब तो। हम अपने लिये न मानें और उनके लिये ही सम्बन्ध रखें तो हम नहीं बन्धेंगे। हमारे लिए उनसे सम्बन्ध रखेंगे तो इतना बड़ा बन्धन होगा कि गृहस्थ से भी कभी नहीं होता।

हमारे लिये उनको मानेंगे तब वहाँ मान मिलेगा, बड़ाई मिलेगी, आराम मिलेगा, भोजन मिलेगा, कपड़ा मिलेगा, सवारी मिलेगी, पुस्तकें मिलेगी, सुविधा मिलेगी, मान-बड़ाई आराम आदि मिलेगा। अगर ऐसा सम्बन्ध रखते हैं तो गृहस्थकी अपेक्षा साधु के ज्यादा बन्धन होगा; क्योंकि उसका बहुतों से सम्बन्ध है। अगर हम अपने लिये न करके केवल उनके लिये ही सम्बन्ध रखें कि उनका हित कैसे हो? उनका उद्धार कैसे हो? उनका भला कैसे हो? मेरा शरीर है, मन है, वाणी है, इन्द्रियाँ है, भाव है, ये उनकी सेवामें ही लग जायँ। जितना लग गया, उतना हमारे लाभ हो गया। हमारा बड़ा भारी कल्याण होगा और हमने उनसे जितना ले लिया, उतना हमारा नुकसान हो गया, हानि हो गयी। ऐसा विचार रखकर लोगोंके साथ सम्बन्ध रखा जाय तो अपना बन्धन नहीं होगा। ऐसे मुक्ति आपके गृहस्थ में रहते हुए हो सकती है।

माँ मेरा कहना करे, पिताजी मेरा करना करे, स्त्री मेरे हुकुममें चले, बाल बच्चे भी मेरा कहना करें, भाई, भौजाई, भतीजा आदि भी मेरा कहना मानें, मेरा आदर करें, मेरे कहे अनुसार चलें जब तक यह भाव रहेगा, तब तक कभी कल्याण नहीं होगा। इसकी जगह यह भाव हो जाय कि इन की सेवा मेरेसे बन जाय, किसी तरह से सुख पहुँच जाय, उनको आराम पहुँच जाय तो मुक्ति में कोई बाधक नहीं होगा। मनुष्य की एक बड़ी भारी कमी है कि वह अपना

आधिपत्य चाहता है, मेरा आधिपत्य रहे, मेरी बात चले, मैं कहूँ ज्यों दूसरा करे-ऐसा जो अपना अधिकार चाहता है न, तो यह तो कुत्ता भी चाहता है। कोई दूजा कुत्ता आ जाता है तो यहाँ का कुत्ता दौड़ता है काटने के लिये, वह काटे तो दूजे काटते हैं, वह नीचे गिर जाता है और जीभ से 'उं उं' करने लग जाता है तो दूजा कुत्ता उस पर चढकर सवार हो जाता है, अब आधिपत्य हो गया उस पर, इस वास्ते वह काटेगा नहीं। उसने उसका मातित अपनेको मान लिया।

आप लोग मेरी बात मान लें। इस अधिकारका अभिमान रखेंगे तो बन्धन होगा ही। साधु हो जाओ, चाहे गृहस्थी हो जाओ। भाई हो, चाहे बहिन हो। कोई क्यों न हो? गृहस्थके झंझट बाँधने वाले नहीं हैं, पदार्थ बाँधनेवाले नहीं है 'ये मेरे हैं' इसवास्ते इनका पालन करूँ, इनका पोषण करूँ। ये मेरेको अपना मानें और मैं इनके साथ रहूँ—यह बन्धन है। केवल उनके पालनके लिये सम्बन्ध रखें। संसारमें अपने लिये नहीं रहना है, संसार के लिये रहना है। गृहस्थमें रहना है तो गृहस्थ अपने लिये नहीं है। अगर ऐसे भाव बदल दिया जाय तो बन्धन स्वप्न में भी नहीं हो सकता। अगर यह सावधानी रहेगी तो स्वप्न में भी बन्धन नहीं होगा। जागृत् में भी बन्धन नहीं होगा, हो ही नहीं सकता बन्धन! मेरा कुछ मतलब सिद्ध हो जाय इस भावनामें बन्धन है। गृहस्थ में रहता हूँ, इनसे मैं सुख ले लूं, इसवास्ते गृहस्थका पालन करूँ—यह सम्बन्ध कुत्ते की तरह ही है, कोई फर्क नहीं है।

मेरे द्वारा सबका हित हो जाय, उसमें सबसे पहले, अगर गृहस्थ में है तो अपने कुटुम्बका पालन करो, उसके बाद दूसरों का भी भरण-पोषण करो। इनका काम करनेकेलिये मैं रहता हूँ, अपने लिये नहीं। तो वह जीवेगा भी सुखसे, और मरेगा भी सुखसे। अगर

मेरे लिये ये हैं और मैं इनसे सुख ले लूँ--ऐसा भाव रखेगा तो वह जीवेगा भी दुःख से और मरेगाभी बड़े भयंकर दुःखसे। बन्धन और मुक्ति कहाँ है? मेरा आधिपत्य हो, समाजमें मेरी बात चले, मैं करूँ ज्यों हो जाय, मेरे हुकुम के अनुसार सब चलें–यह भाव बान्धनेवाला है और मैं इनका कहना करूँ, इनका हुकुम पालन करूँ, इनकी आज्ञा पालन करूँ, इनका भला हो जाय, मैं किस तरह से इन इवके अनुकूल चल सकूँ– ऐसा भाव हो जाय तो यह भाव मुक्ति देनेवाला है। तो मुक्ति और बन्धन यहाँ हैं। गृहस्थमें रहते हुए झंझट ज्यादा रहता है, समय नहीं मिलता–यह बात ठीक है; परन्तु बन्धन यह नहीं है।

अभी बड़ा सुन्दर मौका है, मनुष्यों की सेवा करनेके लिये अवसर मिला है, सेवा करं दो। घरमें कोई रहे तो उसकी सेवा करो, मर जाय तो जला दो। उसके पीछे विधिपूर्वक पिण्ड दान आदि कर दो। जैसे, हम अध्याय पढ़ते हैं तो पढ़ते-पढ़ते अध्याय पूरा हो जाता है, अध्याय पूरा होने पर रोते हैं क्या? कि अब अध्याय पूरा हो गया। ऐसे ही एक व्यक्तिकी सेवा करते-करते वह मर गया, उसकी सेवा कर दी। मरनेके बाद जो करना है, वह कर दिया तो एक अध्याय पूरा हो गया। अब दूजा अध्याय शुरू करो। रोना क्यों होता है? यह हमारे अनुकूल चलता था, खूब सेवा करताथा, मेरा था, वह चला गया। मेरा था और सेवा करता था इस बात का रोना है, मनुष्यका रोना नहीं है। यह अगर पहले से छोड़ दे तो आपका गृहस्थ बिल्कुल बाधक नहीं होगा।

प्रश्नः–श्रेष्ठ सेवा क्या है? उत्तरः– सबका कल्याण चाहना, उनका कल्याण हो यह चाहना श्रेष्ठ सेवा है।

प्रश्नः–घरमें या कार्यालय में अनुशासन हीनता दीखायी पड़ती है। तो उसमें क्या करें? सोचते हैं कि यह छोड़दें, इससे मुक्ति पालें।

उत्तर:—उनको रोकनेके लिये शासन करो। अर्जुनने तलवार बजायी है, उससे बढ़कर आपका शासन क्या क्रूर होगा? मनुष्यों का गला काट देना, इससे बढ़कर कोई क्रूर होता है क्या आपका शासन? इसमें यह भाव न हो कि यह मेरा कहना करे, मेरी बात मानें; क्योंकि इसमें है बन्धन। यह सुचारु रूप से करे, संचालन अच्छी तरह से हो, संस्था ठीक चले। गृहस्थ ठीक चले, उनका हित हो, इसके लिये खूब ताड़ना करो, खूब करो शासन, आपके बाधा होगी ही नहीं। बाधा तो स्वार्थ में है, अभिमान में है। मेरी बात रहे, यह अहंकार है-

अहंकार राक्षस महा, दु:खदायी सब भांति।
जो छूटे इस दुष्ट से, सोई पावे शांति।।

शासन करो, पर करो उनके हितके लिये, अपने लिये नहीं। दूसरे कितना भी उल्टा समझो, आप अगर ठीक करते हो तो आपके बन्धन नहीं होगा। किसी अधिकार, पदसे मुक्ति पानेका मैं कहता ही नहीं। ऐसी मुक्ति पाना गलती है इसमें तो आराम तलबी है, भोग सुख से रहूँ, मेरे झंझट मिट जाय, यह बात है। झंझट से सब बचना चाहते हैं। आराम चाहता है, एकांत में रहेंगे, भजन-साधन करेंगे, कोई झंझट नहीं होगी। एकान्त रहने से नींद खुली आयेगी अच्छी तरहसे। संसार के संकल्प होगें, मौज़ से सोयेंगे, आराम से रहेंगे। वह भोगी है भोगी, वह योगी है ही नहीं! इससे मुक्ति कैसे हो जायगी! उसका कैसे कल्याण हो जायगा! संसारसे वैराग्य होता है तो भोगोंसे होता है कि झंझट से वैराग्य होता है? भोगों से वैराग्य होना चाहिये। झंझट समझकर वैराग्य होता है तो वह वैराग्य थोड़े ही है। ऐसा वैराग्य तो कुत्ते को भी होता है। लाठी लेकर उसके पीछे दौड़ो तो वह भाग जायगा; क्योंकि उसको लाठी की मार खाने से वैराग्य है। यह भी कोई वैराग्य होता है क्या?

सुख-भोग से, आरामसे, मान-बड़ाई से, जब राग-रहित होता है तब वैराग्य होता है।

प्रश्न- दो-चार सज्जन मिलकर काम करते हैं, आपसके विचारों में मत भेद हो तो क्या करें?

उत्तर:-अपना मत उनके सामने रख दें। दोनों में से जो न्याय युक्त हो उसको मानें और अगला व्यक्ति कह दे कि नहीं, ऐसा ही करें तो उस समय अपना मत उसके मत में मिला दें। विपरीत हो तो मत मिलाओ। देखो! एक बात याद आगयी। मैं आसाम गया था। देवर गांवकी बात है। उस गांव को चारानी भी कहते हैं। वहाँ मैंने कहा कि 'बड़ों को नमस्कार करो'। तो वे लोग बोले कि अभी थोड़े दिन पहले यहाँ श्री नेहरुजी आये थे। उनको किसी ने नमस्कार कर लिया तो उन्होंने उसके थप्पड़ मारी और कहा कि इसीरिवाजनेही भारत को गुलाम बनाया है। आप कह रहे हो कि बड़ों को नमस्कार करना चाहिए। तो अब हम किसका कहना करें? मेरे सामने ऐसा प्रश्न आया कि तुम्हारा कहना मानें कि नेहरुजी का? इस पर मैंने उत्तर दिया-'जहाँ मेरा और नेहरुजी का कहना हो और दोनों में मतभेद हो तो नेहरुजी का कहना करो, मेरा कहना मत करो और शास्त्रों की बात आती है तो वहाँ न मेरा कहना करो, न नेहरुजीका कहना करो, शास्त्रों का कहना करो।

शास्त्रों में आता है जब महाभारत का युद्ध हुआ, उस समय युधिष्ठिरजी महाराजने भीष्मजी, द्रोणाचार्यजी, कृपाचार्यजी, शल्यजी को जाकर नमस्कार किया और आज्ञा मांगी। फिर युद्ध किया, तो अन्तमें विजय उनकी हुई। दुर्योधन ने नमस्कार नहीं किया तो उसकी पराजय हुई। नमस्कार करना पराजय है क्या? नमस्कार करना तो बड़प्पन है। उसकी तो उन्नति ही होगी। छोटा होता है, वह बड़े से लेता है। बड़े को तो देना पड़ता है। हमारे

सामने मतभेद हो तो उनकी बात मानो, हमारी मत मानो और शास्त्रों की बात है तो मेरी, उनकी दोनोंकी बात मत मानो, शास्त्र की बात मानो। जो दुनिया के ज्यादा लाभदायक हो, वह बात चाहे किसी की हो, उसकी मानो।

अपने स्वार्थ का त्याग और दूसरों का हित हो—ये दो बातें देखना चाहिये। उनकी बात ऐसी है तो उनकी मान लो। हमारी बात ठीक है तो हमारी मान लो। यह कसौटी लगा लेना चाहिए। नियत और ठीक होगी और कभी भूल हो जायगी तो दोष नहीं लगेगा।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

मनुष्यकी मूर्खता

गोविन्द भवन
८—३—८३.

कलकत्ता.

जैसे, हम अपने मकानके दरवाजे पर खड़े हैं और बाहर सड़क पर बहुत सी मोटरें, बग्गियाँ, आदमी आदि निकले तो हम खुशी मनावें कि बहुत अच्छा हुआ। दूसरे दिन कोई मोटर नहीं आयी, बग्गी नहीं आयी, एक आदमी भी नहीं आया, सड़क खाली पड़ी है तो हम रोने लग जाय कि आज बड़ा भारी घाटा लग गया, हमारे बहुत नुकसान हो गया। बोलो, वह आदमी बुद्धिमान् है क्या? इसी तरह से आपकी अवस्था अच्छी आ गयी, आपके धन आ गया, बेटा पोता हो गया, मकान हो गया, मोटर हो गयी तो आप राजी हो गये और ये चले गये तो आप नाराज हो गये—यह महान् नुकसान है, महान् मूर्खता है। आप परमात्मा के साक्षात् अंश हो और उन तुच्छ चीजों के आधीन हो गये। ये आने-जाने वाली हैं, इनको लेकर हम यह समझें कि हम विद्वान् होगये, हम पण्डित हो गये, हम धनी हो गये। हमारे सुननेवाले आदमी बहुत ज्यादा आ जायँ तो राज़ी हो जायँ तो यह महान् मूर्खता है। सुनने वाले आ गये ज्यादा तो क्या फर्क पड़ा? कोई नहीं आवे सुननेके लिये तो क्या हो गया?

आपका मूल्य आगन्तुक वस्तुओंके आने और जाने से बिल्कुल नहीं है। जो नित्य-निरन्तर रहने वाले परमात्मा हैं, उनकी प्राप्तिसे ही आपका मूल्य है। आपका आगन्तुक चीजोंसे कोई मूल्य

नहीं है। अगर आप चाहो तो आज इस बातको हटा दो। भगवान् ने गीताजी के आरम्भमें कहा है—'**आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत**'। (गी. २/१४) ये आने-जाने वाले हैं, इनकी क्या परवाह करते हो! कितना ही मान हो जाय, चाहे कितना ही अपमान हो जाय, कितनी ही निन्दा हो जाय, चाहे कितनी ही प्रशंसा हो जाय! कितना ही धन आ जाय, चाहे कितना चला जाय! आने-जाने वालोंसे क्या फरक पड़ेगा? आदमी ज्यादा आ गये तो क्या हो गया? और कम आ गये तो क्या हो गया? आपके साथ इनका सम्बन्ध है ही नहीं। ऐसे शरीर रोगी हो गया तो क्या हो गया? निरोग हो गया तो क्या हो गया? आपके क्या हो गया? क्या-आप शरीर हो ? क्या शरीर आपके साथ है? यह आपके साथ रहेगा? धनके रहने न रहनेसे आप अपनी इज्जत-बेइज्जत मानते हो, इसके सिवाय मूर्खता और क्या होती है? महान् मूर्खता है यही। इन चीजोंके आनेसे आप अपनेमें बड़प्पन और चली जानेसे छोटापन मानते हो। कितनी बड़ी गल्ती है! बड़ी भारी गलती है। इसमें शंका हो तो खूब कसकर शंका करो।

आने-जाने वाली चीजों से अपने में फर्क पड़ जाय—यह महान् मूर्खता है। ये चीजें तो आने-जाने वाली हैं। कुटुम्ब भी आने-जाने वाला है, धन भी आने-जाने वाला है। अधिकार, पद आदि भी आने-जाने वाले हैं। मिनिस्टर बन गये तो फूंक भर गयी कि हम बड़े हो गये। क्या हो गये तुम? मूर्खता है सांगोपांग, एक केश जितनी भी इसमें सत्यता नहीं है। आप बताओ, क्या हुआ? आज हम हिन्दुस्तान के बादशाह बन जायँ और कल तिरस्कार पूर्वक उतार दे तो क्या इज्जत है इसकी? और मरना पड़ेगा ही, सब छूटेगा ही उस दिन क्या साथ में रहेगा? इन नाशवान चीजों को लेकर आप अपने में बड़ापन और ऊँचापन देखते हैं, यह वास्तवमें कोई इज्जत है? यह कोई मनुष्यता है? परमात्मा के आप साक्षात्

अंश हो, उसकी प्राप्ति करो तब तो अपनी जगह आ गये, ठीकाने पर आगये। नहीं तो ठीकानेसें चूक गये और आने-जाने वाली चीजों में बन्ध गये। ख्यालमें आता है कि नहीं? शंका हो तो खूब खुलकर करो। हो नहीं सकती शंका! ठहर नहीं सकती! टिक नहीं सकती!

अविनाशी के सामने विनाशी चीज क्या मूल्य रखती है? उन चीजों से राजी और नाराज होते हो। महान् दुष्टता है यह। यह बड़ी भारी दुष्टता है। इस वास्ते इन आने-जाने वाली चीजोंसे अपनी इज्जत-बेइज्जत मत मानो। निन्दासे, प्रशंसा से दुःखी और सुखी मत होवो। आपकी इज्जत है नहीं यह। निन्दा से नाराज होना भी बेइज्जती है और प्रशंसा से राजी होना भी बेइज्जती है। महान् फजीती है आपकी। इसके समान फजीती और कोई है ही नहीं। कौन हो आप? परमात्मा के साक्षात् अंश हो। दो-चार आदमियों ने ठीक कह दिया तो क्या हो गया और दुनियामात्र बुरा कह दे तो क्या हो गया? क्या है यह? यह कोई मूल्य है क्या? यह कोई स्थायी चीज़ है? आपके साथ रहने वाली है? ऐसे जाने वाली को लेकर राजी और नाराज होते हो, सुखी-दुःखी होते हो यह महान् मूर्खता है। छोटी-मोटी मूर्खता नहीं है, बड़ी भारी मूर्खता है।

'सम दुःख स्वस्थ'—जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाववाला ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा मानने वाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है। जो मान और अपमान में सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है। (गी. १४/२४-२५) वह गुणातीत आप हो! गुणातीत बनते नहीं हो! बनी हुई गुणातीत अवस्था टिकेगी नहीं।

अगर अभ्यास के द्वारा गुणातीत बनोगे तो वह गुणातीत होना कोई कामका नहीं है। आप स्वयं गुणातीत हो! साक्षात् परमात्मा के अंश हो! आप अपनेको भूल गये। कितनी अवस्थाएँ बदली है! बालक, जवान, वृद्ध अवस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था, मान-अपमानकी अवस्था, निन्दा-स्तुति की अवस्था, घाटे-नफेकी अवस्था सब बीती है, पर आप वे के वे ही रहे। फिर भी आने-जाने वाली चीजोंके साथ हाँ में हाँ मिलाकर हंसने और रोने लग जाते हो।

होश आया कि नहीं? आप ज़रा सोचो। क्या कर रहे हो? अगर ऐसा ही करोगे तो दुःख पाओगे! दुःख! दुःख! दुःख!याद कर लो। और आज अगर इससे ऊँचे उठ जाओगे तो महान् अनन्द होगा। जो किसी जन्ममें कभी नहीं हुआ, वह आनन्द होगा और सबको हो जायगा। जो ऊँचा उठ जायगा, उसको महान् आनन्द होगा। जिन लोगों ने ऐसा किया है, उनके आनन्द हुआ है, होता है और होगा। होने की रीति है। यह बिल्कुल हमारे हाथकी बात है, कठिन बात नहीं है। इसमें किसी की सहायता की जरूरत नहीं है। सहायता करने वाले भगवान्, सन्त, महात्मा, धर्म और शास्त्र सब हमारे साथ में हैं, पर सुखी-दुःखी के साथ कोई नहीं है। घरवाले भी नहीं है। खास माँ-बाप नहीं है। बेटा-बेटी नहीं है, लुगाई (स्त्री) आपके साथ में नहीं है, कोई आपके साथ नहीं है। ऐसी बेइज्जती कराते हो, मनुष्य होकर ऐसी फजीती कराते हो अपनी! राम! राम! राम!

भगवान् ने अपनी प्राप्ति का अधिकार दिया। उस अधिकार को लेकर इतना अनर्थ करते हो? क्या दशा होगी। आज सुधर जाय अभी-अभी सुधर सकते हैं। हम इन आने-जाने वाली चीजोंमें सुखी-दुःखी नहीं होंगे, बस। केवल इतनी बात है, लम्बी-चौड़ी है ही नहीं। सुख-दुःख हो जाता है तो होने दो, कोई पुरानी आदत से

हुआ है, हम नहीं मानेंगे। उठाकर फेंक देंगे हम। आप में वह ताकत है। आपमें वह सामर्थ्य है। भगवान् भी सहायता देनेके लिये तैयार हैं। साधु, सन्त, महात्मा जितने हैं, सब हमारे पक्षमें हैं। सुखी-दुःखी होते रहेंगे तो कोई हमारे पक्ष में नहीं होगा और तो कौन होगा? आपका शरीर भी साथ में नहीं रहेगा। कोई आपके साथ नहीं। इसमें कोई सन्देह हो तो बोलो। काम, क्रोध, लोभ तभी आते हैं, जब आने-जानेवाली चीजसे आप अपनी उन्नति और अवनति मानते हो। आने जानेवाली चीज से अगर सुखी-दुःखी नहीं होते तो काम और क्रोध कैसे आते, बताओ! होशमें आकर बोलो! सिवाय आने-जाने वाली चीजके और क्या है ये काम, क्रोध और लोभ!।

सच्ची बातके सामने कच्ची बात कैसे टिकेगी?और दुःख ही पाना है तो, अंगारों में हाथ दो। आने और जानेवाली चीजों से राजी और नाराज न हो तो कौन सा दोब रहेगा! है ही नहीं कोई दोष। होशमें आकर बोलो! खास मूल एक ही बात है कि आने-जाने वालों से राजी-नाराज न होना। कहते हैं, हमारे मिटता नहीं। बालक के भी मनकी बात नहीं होती तो बालक रो पड़ता है। आपको रोना आता है कि नहीं? आप जैसा चाहते हो, वैसा नहीं होता तो नीन्द आती है कि नहीं? भूख लगती है कि नहीं? बात सुहाती है कि नहीं? मौज से जीते हो, खाते-पीते हो, सो जाते हो, तब तो नहीं मिटेगा। और बेचैनी हो जाय तो अभी मिट जायगी। टिक नहीं सकती। बेचैनी वश की बात नहीं तो रोना तो आपके वशकी बात है कि नहीं! दुःखी होना वशकी बात है कि नहीं? जहाँ वशकी बात नहीं होती तो वहाँ रोता है आदमी। सच्ची है कि झूठी?

अपना वश नहीं चलता, वहाँ रोता है कि नहीं रोता है? आप तो

कहते है कि रोना वशकी बात नहीं है, पर वास्तव में रोना बन्द होना वशकी बात नहीं है। बातें बनायी है बातें, गहरे उतरे नहीं हो! हमारे वशकी बात न हो और करना चाहते है तो सुखी रह सकते हैं क्या? कोई काट नहीं सकता इस बातको। किसी की ताकत नहीं, जो काट दे! इतनी पक्की बात है एकदम सिद्धान्तकी! आप विचार करो, शान्ति से विचारो। आने-जाने वाली चीजों से सुखी-दुःखी मत होवो। आप रहते हो, चीजें आती-जाती है, परिस्थितियां आती-जाती हैं। आप अलग हो, आने-जानेवाली चीजें अलग हैं और वे एक रूप नहीं रह सकती तो राजी-नाराज कैसे रह सकते हो?

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरि:

बेईमानीका त्याग

गोविन्द भवन
कलकत्ता.

९-३/८३.

एक परमात्मा है और एक संसार है—ये दो चीजें है। यह जीवात्मा परमात्मा का तो अंश है और इसने संसार को पकड़ा है-खास बात यही है। संसार ने इसको नहीं पकड़ा है, इसने संसार को पकड़ा है। जिसको पकड़ना आता है, उसको छोड़ना भी आता है। जैसे अपनी कन्याको आप अपनी पुत्री मानते हैं। उसको ब्याह देनेपर आपकी पुत्री होते हुए भी आप उसे बिलकुल भीतर से अपनी नहीं मानते। बाई अपने घर चली गयी। अपना मानना और अपना न मानना आपको आता तो है ही। परमात्मा तो है अपना और संसार अपना नहीं है-यह सच्ची बात है, सार चीज है यह। इससे निहाल हो जाओगे, बस। यह सच्ची बात है, यह बनावटी बात नहीं है। इसमें कुछ उद्योग करना पड़ेगा या परिश्रम करना पडेगा ऐसा नहीं है। केवल इस बातको स्वीकार करलें कि यह शरीर और संसार हमारा नहीं है और परमात्मा हमारे हैं।

इसीको गीतामें कहा-'मामेकं शरणं व्रज'। एक मेरी शरण हो जा, यह गीताका सार है। हम केवल भगवान्‌के हैं और केवल भगवान् ही हमारे हैं। संसार के हम नहीं हैं और संसार हमारा नहीं है। अब संसार के साथ सम्बन्ध क्या है? कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि ये सब संसार के हैं और संसार से मिले हैं। इनको

संसार की सेवाके लिये लगाना है। कुटुम्ब, धन सम्पत्ति आदि संसार से मिले हैं, इनको अपने लिये मानना महान् धोखा है, महान् नरकोंका रास्ता है। रुपया-पैसा अपने लिये मानना महान् बेइमानी है। न्याययुक्त कमाओ ;परन्तु जहाँ आवश्यकता देखो, वहाँ उदारतापूर्वक खर्च करो। उनका मानकर खर्च करो, अपना मानकर नहीं। अपने रोटी खा ली, अब बची रोटी किसकी है? पता नहीं। अपने कपड़ा पहन लिया, अब बचा हुआ किसका है? पता नहीं। जिसको रोटी न मिले, जिसको कपड़ा न मिले, उसकी है वह। उसकी उतनी ही है, जितनी वह रोटी खा सके, जितना कपड़ा पहन सके। उतनी देंगे भाई, उतनी हम लेंगे। जिसको जितनी जरूरत है, उसको उतनी दे दो और दे दो उसकी समझकर। वह उसके पाँती (हिस्से) की है, अगर यह भाव बना लोगे तो निहाल हो जाओगे।

मैं यह नहीं कहता कि सब छोड़ दो, साधु हो जाओ, त्यागी हो जाओ, किन्तु आप जहाँ हैं, वहीं रहते हुए जिसके अभाव हो, उसको उतनी दे दो चुपचाप। लोगोंमें ढिंढोरा मत पिटाओ। किसी के औषधिकी जरूरत हुई तो औषधि का प्रबन्ध कर दिया। जिनके बालकोंकी पढाई नहीं हो रही है, ऐसी गरीब विधवा माताएँ हैं, उनके बच्चें की पढ़ाईका प्रबन्ध कर दो। कितना? आपके बच्चोंकी पढ़ाई का प्रबन्ध करनेपर रुपये बचे तो, नहीं तो कोई परवाह नहीं। इस प्रकार देने पर भी इनमें कोई अभिमानकी बात नहीं है; क्योंकि आपके पास जो बचा हुआ था, वह उसीका ही था, उसको देकर के समझो कि ऋण चूक गया आज। नहीं तो हमारे पर ऋण था, यह कर्जा था, कर्जा चूक गया। जिसने ले लिया, उसकी कृपा मानो कि मेरेको उऋण कर दिया, ऐसी कृपा मानो। यह बात बहुत सच्ची है।

देखो! हम लोग सुनाने वाले हैं न चाहे अभिमान भले ही करलें कि हम सुनातें हैं ;परन्तु हम वही सुनाते हैं, जो आपकी चीज़ है। आप मान सकते हो कि स्वामीजी ने हमारेको यह बताया, पर सच्ची बात तो यह है कि आपकी चीज ही आपको दी जाती है। गीता प्रेसके संस्थापक श्री जयदयालजी गोयन्दकाजी कई दफे पूछते थे बोलो क्या सुनावें? तो मेरे कहने का काम पड़ा है कि जो हमारी हैं, वो दे दो। सच्ची बात है, वह ज्ञान आपका है, बिल्कुल आपका है, वही मैं दे देता हूँ। अगर मैं यह अभिमान करता हूँ कि 'मैं देता हूँ' तो यह बड़ी गलती है, इसका दण्ड होगा। आपकी बात आपको दे दूँ तो उऋण हो जाऊँ। जब तक नहीं दी, तब तक ऋणी था। आपने ले ली तो मेरा ऋण उतर गया। कर्जा उतर गया। आपने मेरे को निहाल कर दिया, कर्जेसे रहित कर दिया एकदम सच्ची बात है।

मैं मेरी देखी हुई अनुभवकी बात बताता हूँ। ऐसी बातें बीती है, जहाँ मैंने कहा कि बहुत बढ़िया बात बताऊँगा तो वहाँ समय पर बात उपजी नहीं है। मैंने खूब जोर लगाया, पर समय पूरा करना मुश्किल हो गया-यह मेरी बीती हुई बात है। जहाँ मैंने कहा कि भाई, हमारे को तो कुछ आता नहीं, हम जानते नहीं हैं—ऐसा भाव रहता है तो इतनी बातें कहने में आती है कि आश्चर्य आता है मेरे को! यह हमारा अनुभव बताया है आपको। तात्पर्य यह हुआकि आपकी बात ही आपको देनी है, यह सच्ची बात है। इसी तरह जो चीजें आपके पास है, उनको संसार की समझकर संसार को देनी है। जो हमारे पास नहीं है, जैसे—धन हमारे पास है नहीं, तो धन देने की हमारे पर जिम्मेवारी नहीं है। जो बातें हम जानते हैं, आप पूछते हो और हम नहीं बतावें तो हमारे पर कर्जा है। बता देते हैं तो कर्जा उतर गया। आपने ले लिया, हमारे को हल्का कर दिया, बड़ी

कृपा कर दी। इस तरह का बर्ताव करो संसार के साथ, तो मुक्ति स्वतः सिद्ध है, बन्धन तो किया हुआ है।

जो अपनी चीज़ नहीं है उसको अपनी मानी—यही बेइमानी है और यही बन्धन है; क्योंकि ये चीजें अपनी हैं नहीं, अपने तो परमात्मा है और हम परमात्मा के हैं। यह बात सच्ची है। जितनी मिली हुई चीजें है, चाहे स्थूल शरीर हो, चाहे सूक्ष्म शरीर हो, चाहे कारण शरीर हो—ये सभी संसार के है, संसार से मिले हैं तो इनको संसारकी सेवामें लगा दो। अगलोंकी (उनकी) चीज़ अगलों को (उनको) बता दी, उनकी चीज़ उनको सौंपदी और उन्होंने स्वीकार कर ली, यह उनकी कृपा है। अपने आपको भगवान् को दे दिया और अपनी चीज संसार को दे दी, तो सदाके लिये निहाल हो जाओ जो, सच्ची बात है। कल मैंने कहा था कि आने वाली और जानेवाली चीजोंसे आप सुखी और दुःखी क्यों होते हो? जो आयी है, वह चली जायगी। सुखी हो जाओगे तो दुःखी होना ही पडेगा। आने वाली चीज़ से सुखी नहीं हो ओगे तो दुःखी नहीं होना पडेगा।

जैसे इस मकान में आ गये और अब चले जाओगे तो दुःखी नहीं होना पडेगा क़ि यह गोविन्द भवन छूट गया; क्योंकि हमने पकड़ा ही नहीं। तो इनको पकड़ना जन्म-मरणका कारण है। ऐसे सब संसारकी चीज़ संसार को सौंप दो और अपने को परमात्मा को सौंप दो तो बिल्कुल मुक्त हो गये। अगर सौंप नहीं सको तो भगवान् से मदद मांगो कि 'हे नाथ! सच्चाईकी मदद चाहते हैं' और सच्चाई की मदद सत्य स्वरूप परमात्मा जरूर करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। झूठेकी मदद नहीं होती। सच्चेकी मदद हरेक करेगा, दुनिया करेगी, भगवान् करेंगे, धर्म करेगा, सन्त-महात्मा करेंगे, गुरुजन करेंगे, सभी करेंगे। सच्चे हृदय से जो परमात्मा में लग जाय, उसकी दुनिया चिन्ता करती है। आजकलके गये गुजरे जमाने में

भी उसके रोटीकी, कपड़ेकी, रहने की कमी नहीं रहेगी; क्योंकि वह सच्चे रास्ते पर है।

जो लूटना चाहते हैं, लेना चाहते हैं, ऐसी बहन बेटी भी होगी तो उसको भी देना नहीं चाहेंगे। जबकि कन्या को देना चाहिए। बहन को देना चाहिए पर जो बहन-बेटी खाऊँ-खाऊँ करने लग जाती है तो उसको देना नहीं चाहते और जो कहे कि 'नहीं भैया! मेरे बहुत है, जरुरत नहीं है' तो उसको और देने की मन में आवेगी कि 'नहीं बहन! और ले जा इतना'। आप देकर प्रसन्न होंगे और बहन भी प्रसन्न होगी तथा दूसरे लोग भी देखकर प्रसन्न होंगे। 'नहीं भैया। हमारे बहुत है'। यह सच्ची बात है। आपके देने से ही उसका गृहस्थ थोड़े ही चलेगा। चलेगा तो उसके घर से ही तो यहाँ क्यों नियत बिगाड़ो? 'इनका ले लें इतना और ले लें'—ऐसा करके केवल अपनी नियत बिगाड़ना है और मिलेगा कुछ नहीं।

बहुत वर्षों पहले एक बात मेरे मनमें आयी थी कि ये बणिया लोग कमाते हैं तो खाते हैं, साधुओं को और ब्राह्मणों को भी देते हैं और जहाँ तक बने, ये लोग पुण्य का नहीं लेते। दान—पुण्य में खर्च करते हैं पर ब्राह्मण कमाने में व्यापार करते हैं, नौकरी करते हैं, और मुफ्तमें दान-पुण्य भी लेते है, फिर भी ब्राह्मण इतने धनवान नहीं होते हैं। तो क्या कारण है? कमाने में आप से कम काम नहीं करते, तो फिर धनी ज्यादा होना चाहिए न? धन ज्यादा होना चाहिए कि नहीं, बताओ? पर उनके पास बहुत अधिक धन है क्या? जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा भाई। तो क्यों नियत बिगाडो? इससे भी लेलूँ उससे भी ले लूँ' यह दरिद्रता आपके साथ चलेगी और कुछ नहीं चलेगा। मेरे को नहीं लेना है तो भी आंनेवाली चीज़ आवेगी ही। सच्ची बात है। नियत को शुद्ध करना अपने हाथकी बात है। परायी चीज़को लेना हाथकी बात नहीं है।

हमें सेवा करना है, ऐसे नियत शुद्ध बना लो तो बेड़ा पार है।

मेरे को तो ऐसी बातें मालूम होती है कि मुक्तिके समान सरल चीज़ कोई है ही नहीं। केवल बेईमानी छोड़नी है। बेईमानी भी छोड़ोगे नहीं तो क्या साधन करोगे? एक जाट की बात सुनी कि रेण के पास बाहर गांव में रहने वाला एक जाट था। वह रेण गांव में आता और दुकान पर कहता कि सेठ अमुक-अमुक चीज़ इतनी इतनी दे दो, ये रुपये लो। वह सेठ वापस जितने पैसे लोटाता, लेकर चल देता। न भाव पुछता, न तोल पुछता, न मोल करता। किसीने उसको कहा- "ऐसे कैसे करते हो।" तो उसने कहा—जो मेरी चीज होगी तो उसे सेठ ले सकेगा नहीं, और वह अपनी देगा नहीं"। अब एक जाट आदमी की ऐसी बात है! बीती हुई बात है। आप यह कर सकोगे नहीं और मैं ऐसा करने का कहता भी नहीं; क्योंकि एकदम ऐसा कर सकोगे नहीं। और कहीं ठगी हो जायगी तो चित्तमें खनखनाहट होगी, इस वास्ते ऐसा नहीं करना है। भार उतना ही उठाओ, जितना उठा सको पर नीयत पूरी बना लो। चोर चोरी करने जाता है, वह भी अपनी चीज़ ही ले जाता है, आपकी नहीं ले जा सकता; ताकत नहीं है उसमें ले जाने की! ऐसे उदाहरण आजकल के जमाने में बीते हैं।

नीयत मत बिगाड़ो बाबा! निर्वाह होनेवाला तो होगा ही, नीयत बिगाड़ने पर दुःख पाना ही पड़ेगा। लाखों रुपया रहने पर भी रोटी नहीं खा सकोगे और जिनके पास कौड़ी नहीं है, ऐसे सन्तोंकी एक साखी में आता है-

धान नहीं, धीणों नहीं, नहीं रुपैयो रोक।
जीमण बैठा रामदास आन मिले सब थोक।।

सच्ची है कि झूठी? धान आपका, धीणा (गाय भैंस) आपके, रुपैये आपके और भोजन हम करते हैं। जो आता है, वह आ

जायगा। जो नहीं आना है तो साधु होने मात्र से माल मिले, यह बात नहीं है। अपनी है वह अपनेको मिलेगी। **'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्'** जो हमारी है वह औरों की हो नहीं सकती। आप हम जन्मे तो माँ के दूध पैदा हो गया तो क्या अब हमारे लिए अन्न पैदा नहीं होगा? प्रबन्ध करने वाला वही है, इस वास्ते न्याययुक्त काम करो, परिश्रम करो, उद्योग करो, यह अपना काम है। चिंता मत करो। उत्साहपूर्वक तत्परता से मशीनकी तरह काम करो।

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'। (गी. ३/१९)

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरि:

मनुष्यजन्म ही अन्तिम जन्म है

प्रवचन:-
१६–३–८३.

गोविन्द भवन
कलकत्ता

श्रीमद् भगवद्गीता में आया है-
बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्व मिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।गी. ७/१९।।

इसका तात्पर्य है कि यह मनुष्य जन्म अन्तिम जन्म है। यह खुद अगाड़ी जन्म को निमन्त्रण देगा तो जन्म होगा, नहीं तो भगवान्‌की तरफसे यह अन्तिम जन्म है। अगर यह अगाड़ी जन्मको निमन्त्रण नहीं देगा तो इसका जन्म नहीं होगा; क्योंकि यह जन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। भगवान् कृपाकरके मानव शरीर देते हैं-इसका तात्पर्य क्या है? कि भाई, तुम अपना कल्याण कर लो। सदाके लिये मुक्त हो जाओ। भगवान् की कृपा कोई मामूली नहीं होती, यह सर्वोपरि है। इस प्राणी के लिये मुक्तिका अवसर दे दिया। अगर यह इस अन्तिम जन्म में मुक्ति करले तो भगवान् इसको अगाड़ी जन्म नहीं देंगे। अब जन्म होता है तो केवल इसके खुदके स्वीकार करने से होता है।

कारणं गुणसंगो स्य सद सदयोनिजन्मसु।

ऊँच-नीच योनियों में जन्म होनेका कारण गुणोंका संग है। इस मनुष्य जन्म में भगवान ने एक बहुत विलक्षण शक्ति दी है, उसका नाम है विवेक। विवेकका मतलब इसके सामने उत्पन्न और नष्ट होने वाली सृष्टि रखी। यह इस बदलने वाली सृष्टि को प्रत्यक्ष

देखता है। सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, आते हैं और जाते हैं। दिन होता है और रात होती है, जाग्रत होता है, स्वप्न होता है और सुषुप्ति होती है। इससे संसारकी अनित्यता साफ दीखती है। आप इतने बैठे हो, विचार करके देखो! इस संसार की अनित्यता दीखती है कि नहीं! एकरूप से नित्य रहता ही नहीं। न दिन रहता है, न रात रहती है। न शीतकाल रहता है, न ग्रीष्मकाल रहता है, न वर्षाकाल रहता है। न जाग्रत रहता है, न स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति रहती है। न भूतकाल रहता है, न वर्तमान रहता है, और न भविष्य रहता है। मात्र सृष्टि बदल रही है। जो बदल रही है, वह नहीं है; किन्तु जिसके प्रकाशसे यह बदलना दीखता है, जिसके आश्रित, आधीन यह बदलना होता है, वह परमात्मा है। उसका होनापन है। इस सृष्टिका होनापन नहीं है। यह तो केवल परिवर्तनशील है।

जैसे, इस शरीर के बदलने पर, अवस्थाओं के बदलने पर 'मैं' रहता हूँ, यह अनुभव है। इसी तरह से सम्पूर्ण संसार के बदलते रहने पर परमात्मा रहते हैं, यह अनुभव है। 'रहने वाले' परमात्मा और अपने स्वयं हुए। 'बदलने वाला' संसार और शरीर हुआ। इस अनुभवके लिये नया ज्ञान सम्पादन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे जितना दूसरा ज्ञान कर लो, परन्तु यह बात प्रत्यक्ष है। भगवान् ने जीव मात्रको विवेक दिया है, पर मनुष्यको विशेषता से दिया है। मात्र जीव को खाने-पीने आदिका ही विवेक है, पर इस मनुष्य को उत्पत्ति-विनाशशील का ज्ञान है। स्वयं अलग रहता हुआ इस उत्पत्ति विनाशशील में फंस जाता है। यह इसकी बड़ी भारी भूल है। इसी से जन्म-मरण होता है, नहीं तो यह अन्तिम जन्म है, अब अगाड़ी जन्म नहीं है। यह स्वयं ही अपना जन्म पैदा करता है, अगर यह भगवदाज्ञा से विरुद्ध न चले और ठीक मर्यादा से चले तो फिर जन्म नहीं होगा। इसमें यह मनुष्य समर्थ है, इसमें यह स्वतन्त्र है, इसमें यह बलवान है, इसमें यह निर्बल नहीं है,

अयोग्य नहीं है। ऐसे यह ठीक चले तो मुक्ति स्वतः सिद्ध है, क्योंकि अनेक जन्मोंसे जो बना हुआ प्रारब्ध है, उसका फल तो स्वतः आकर मिलेगा और वह प्रारब्ध नष्ट हो जायगा। फल भोग में आया और नष्ट हुआ। संचित बेचारे कुछ काम नहीं करते, वे चुपचाप हैं। फुरणाएँ आती हैं तो उनके वशमें न रहे।

'तयोर्नवशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'।

शास्त्रकी आज्ञा के अनुसार करता रहे तो स्वतः स्वाभाविक ही मुक्ति है और संसार का नहीं पना दीखता है। तात्पर्य, है तो एक परमात्मा ही; दूजे हैं कहाँ? ये सब तो नहीं में बदल रहे हैं, प्रत्यक्ष बात है—'अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः'।—अदर्शनसे पैदा हुआ और फिर अदर्शन में ही लीन हो रहा है। ये जितने शरीर हैं सौवर्ष पहले नहीं थे और सौ वर्ष बाद नहीं रहेंगे। जितनी यह सृष्टि है, सर्ग से पहले नहीं थी, प्रलय के बाद नहीं रहेगी। पहले नहीं थी और पीछे नहीं रहती, बीचमें नहीं होती हुई भी दीखती हैं; क्योंकि नहीं से पैदा होकर 'नहीं' में लीन हो गयी तो इसमें 'नहीं' पना सत्य रहा। इसका 'है' पना सत्य कैसे रहा? परमात्मा पहले थे, और अन्त में परमात्मा रहेंगे, बीचमें परमात्मा कहां चले गये? सत्य तत्त्व सम्पूर्ण अवस्थाओं में 'है' ज्यों का त्यों परिपूर्ण है। इसमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। सृष्टि किञ्चिन्मात्र भी पैदा नहीं हुई थी, तब वह परमात्मा थे और सम्पूर्ण सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाय तो भी परमात्मा रहेंगे। सृष्टिके रहते हुए भी परमात्मा वैसे के वैसे ही हैं।

केवल उत्पत्ति-विनाश की तरफ दृष्टि रहने से परमात्मा की तरफ दृष्टि जाती नहीं। उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुओंमें ही उलझ जाते हैं। उत्पत्ति-विनाशका जो आधार है, इनका जो आश्रय है, इनका जो प्रकाशक है, जो उत्पत्ति और विनाश रहित है, उधर

दृष्टि जाती नहीं—यह बात सच्ची है। इसमें भी एक मार्मिक बात है कि दृष्टि उधर जाती तो है, पर हम उसको आदरकी दृष्टि से नहीं देखते। साधारण-से-साधारण, ग्रामीण-से-ग्रामीण, अपढ़-से अपढ़ आदमीके भी ऐसा होता है कि भाई ये सदा रहने वाला नहीं है, पैदा हुआ है तो नष्ट हो जायगा। यह ज्ञान उसको भी है, पर उस ज्ञान को महत्व नहीं देता है। उसका आदर नहीं करता है। इसीसे यह दुर्दशा हो रही है। केवल उसका आदर करें तो दूजी पढ़ाई की जरूरत ही नहीं है। ग्रन्थों की जरूरत ही नहीं है। गुरुकी जरूरत ही नहीं है। शिक्षाकी जरूरत ही नहीं है।

ठीक तरह से विचार करें कि ये तो विनाशी हैं भाई। हम इसमें कैसे उलझे हैं! थोड़ा सा विचार करें तो साफ दीखता है। आप कहते भी हो कि रुपया क्या है! रुपयो तो हाथरो मैल है। मानो रुपयों को आप पैदा करते हो, आपको रुपये पैदा नहीं करते। आपके सामने वस्तुएँ आती हैं और जाती है। वस्तुओं के सामने आप नहीं आते-जाते हो। आप तो रहते हो। शरीरों के भी आने जानेसे आप आते-जाते नहीं हो, आप रहते हो। शरीर को कपड़ेका दृष्टान्त देकर बताया कि जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर मनुष्य नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही पुराने शरीरों को छोड़कर यह जीव नये शरीर धारण करलेता है। शरीरों का आना-जाना है और आपका सदा रहना है, यह ज्ञान है। यह ज्ञान सबको है। अब इस ज्ञान को आदर नहीं देते, आदर की दृष्टि से नहीं देखते। आप बताओ, सच्ची बात रहनेवाली है कि जानेवाली?

आने-जाने वाली सच्ची कहाँ है? वह तो कच्ची है। उसमें उलझ जाना गलती की बात है। आपने ध्यान दिया कि नहीं? यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। आपको हमारेको साफ दीखता है कि यह जितना संसार है, उथल-पुथल हो रही है, कोई भी नित्य नहीं है। हरदम

रहनेवाली नहीं है, पर अनित्य भी नित्य दीखता है; क्योंकि इसमें रहने वाला नित्य तत्त्व है। अगर वह न होतो यह दीखे ही नहीं। ऐसे संसार का जो एक क्षण भी स्थिर नहीं, ऐसा क्षण भंगुर भाव है, वह भी 'है' रूपसे दीखता है, उसमें 'है' रूपी झलक उस 'है' (परमात्मा) की है, जो इसमें परिपूर्ण है और वास्तव में 'वह' ही है। इसवास्ते कहा-'वासुदेव सर्वम्' सब कुछ परमात्मा ही है'। ये सब कुछ परमात्मा ही है। इसमें 'यह' सब कुछ नहीं है; किन्तु उस जगह वही है, जो वासुदेव है। पहले वही था और अन्तमें वही रहेगा तो मध्यमें दूजा कहांसे आवे? विवेक दृष्टि से जो रहने वाला है, उस तत्त्व पर दृष्टि डाल दें। मनुष्यमात्रका स्वतः सिद्ध यह धन है। इसवास्ते बहुत से जन्मोंका यह अन्तिम जन्म हुआ।

मानो यह विवेक स्वतः है। इस विवेक को पैदा करना नहीं पड़ेगा। यह ज्ञान पैदा नहीं होता है। इस 'है' की तरफ केवल दृष्टि डालना है। गलती यह होती है कि जो नहीं है, उस तरफ दृष्टि डालकर उसका 'है पना' देखते हैं। नहीं को सत्ता देते है, यह गलती होती है। 'नहीं' को सत्ता न दें। जो 'है' उस 'है' को सत्ता दें। जो एक क्षण भी स्थिर नहीं, वह सर्वम् हुआ और नित्य रहने वाला तत्त्व 'वासुदेव' हुआ। उसको जान लिया तो अब बस आगे जन्म का कोई कारण नहीं है, क्योंकि गुणों का संग होने पर जन्म होता है और गुणों का संग नहीं करे तो मुक्ति तो स्वतः सिद्ध है ही। सब से अतीत तत्त्व स्वतः है और सम्पूर्ण जिस ज्ञान में प्रकाशित होता है, वह ज्ञान भी स्वतः है।

बहुत वर्ष पहलेकी बात है। हम नीमाज रामद्वारे में बाहर बगीचे से आये और राम द्वारे दरवाजे में चढ़कर भीतर आ रह थे तो उस समय यह बात याद आयी कि ।**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'**। ब्रह्मलोक तक के लोग लौटकर आते हैं।

इसमें ब्रह्माजी भी सान्त हो जाते हैं। ब्रह्माजीका कितना बड़ा दिन! कितनी बड़ी रात! और इन रात-दिनों से उनकी उम्र कितनी बड़ी है! वे ब्रह्माजी भी ऐसे उत्पन्न और नष्ट होते हैं। यह ज्ञान हमारे को होता है। यह ज्ञान कितना बड़ा है! अनन्त ब्रह्मा होकर चलेगये तो भी वह ज्ञान है ज्यों का त्यों है। उस ज्ञानमें स्थित रहने से जन्म-मरण कहाँ है? ज्ञान में जन्म-मरण नहीं है। उस ज्ञान को महत्त्व देना है। उसे महत्त्व देने केलिये ही मानव शरीर मिला है और मनुष्य शरीर में ही यह ज्ञान हो सकता है।

खाना-पीना, ऐश-आराम तो हरेक शरीर में हो सकता है। लड़ाई-झगड़ा आपस में व्यवहार करना तो हरेक योनि में हो जाता है; परन्तु यह सब परिवर्तनशील है, रहेगा नहीं, रहने वाला वह एक तत्त्व है। यह ज्ञान तो मानव शरीर में ही है। भगवान्‌ने कृपा करके यह मानव शरीर दिया है। यह ज्ञान हो जाय तो अन्त हो जाय कि नहीं अगाड़ी जन्मों का? यह जन्म स्वतः अन्तिम जन्म है। अब यह जिसमें उलझ जायगा, राग कर लेगा। **'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्'** जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर छोड़ता है, उसी भावको वह प्राप्त हो जाता है। आपकी प्राप्ति कैसे हो? तो कहते हैं कि मेरा स्मरण करता हुआ जावे तो मेरी प्राप्ति हो जाती है। जो 'है' (भगवान्)मौजूद, उन्हींका स्मरण करें। 'नहीं है' उसका क्या स्मरण करें? 'है' का स्मरण करता हुआ जायगा तो उस 'है' की प्राप्ति हो जायगी। अब आपकी मर्जी। चाहो तो अगाड़ी जन्म का तैयारी करो, स्वतंत्रता है। अगाड़ी जन्म न लेने केलिये तो यह मनुष्य शरीर है ही। कैसी बढ़िया बात है।

आपके सामने भूत, भविष्य,वर्तमान बदलता है। ठीक-बेठीक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती रहती है। अब उनमें उलझ जाओ तो आपकी मर्जी, जन्मों और मरो। ये तो ऐसे ही बदलते हैं,

इनमें क्या उलझना? इनमें क्या तो राग करें? क्या द्वेष करें? क्या हर्ष करें? क्या शोक करें? ये तो यों ही चलता रहता है। हर्ष-शोक, राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, बदलता है कि नहीं सभी! मैं, तू, यह, वह, सब बदलता है। न बदलने वाले से ही बदलना दीखता है। बदलने वालेसे बदलनेवाला थोड़े ही दीखता है! आप जानकार हो! उस जानकारी में इन सबकी जानकारी होती है। किसी के साथ चिपकें नहीं तो स्वतः मुक्ति है। मुक्ति स्वतः सिद्ध है। बाल्यवस्था मिटाने के लिए कुछ उद्योग किया था क्या? ऐसे संसार मात्रको मिटाने केलिये कोई उद्योग करने की जरूरत नहीं है आपको। स्वतः मुक्ति हो रही है। स्वयं नया-नया पकड़ता है छूटता तो आपसे आप है। बन्धन आपका बनाया हुआ है। आपकी मर्जी हो तो रखो, चाहे छोड़ दो।

प्रश्न :- आपने बताया अभी कि गुरुकी 'ग्रन्थकी' किसीकी जरूरत नहीं है। गुरु बिना ज्ञानकी प्राप्ति................?

उत्तर :- ज्ञानकी प्राप्ति होती है, पैदा नहीं होता। वह 'है', जरूरत उसी की है। इस संसार को आपने 'है' मान लिया, इसवास्ते जरूरत हो गयी। गुरु की ग्रथों की, सन्त की जरूरत नहीं है। भगवान की कृपासे बढ़कर और कौन चाहिये? गुरु, और शास्त्रको तो आप मानेंगे, तब काम करेंगे, नहीं तो वे क्या काम करेंगे? भगवान सब जगह परिपूर्ण मौजूद हैं फिर भी लोग जन्मते-मरते हैं, सब जीव दुःख पा रहे हैं। भगवान् कण-कणमें है, पर होना क्या काम आया? आप स्वीकार कर लो तो काम आ गया। इसवास्ते और किसीकी जरूरत नहीं है।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरि:

'है' परमात्म-तत्त्व की ओर दृष्टि रखें

२०—३—८३. भीनासर, धोरा
बीकानेर

श्री गीताजी में आया है कि :

नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (गी: २/१६)

सत्का अभाव नहीं होता और असत् की सत्ता नहीं होती। दोनोंका तत्त्व तत्त्वदर्शियों ने देखा है। सत् का अभाव नहीं होता। इधर थोड़ी दृष्टि डालें। सत् कहते हैं 'है' को, वह सब देशमें है, सब कालमें है, सम्पूर्ण वस्तुओं में है, सम्पूर्ण शरीरों में है, सम्पूर्ण क्रियाओंमेंहै। देश, काल,वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, अवस्था और क्रिया—ये तो हुए अलग-अलग; परन्तु 'है' तत्त्व अलग नहीं हुआ है। वह है ज्यों का त्यों ही है। वह किसी अवस्था में तो हो और किसी अवस्था में न हो, किसी घटना में हो और किसी घटना में न हो; किसी क्रिया में हो और किसी क्रिया में न हो, किसी वस्तु में हो और किसी वस्तुमें न हो, किसी व्यक्ति में हो और किसी व्यक्ति में न हो—ऐसा हो सकता है क्या? उस 'है' का कभी भी और कहीं भी अभाव नहीं हो सकता। अवस्था, घटना, क्रिया, वस्तु और व्यक्ति सब बदलती हैं, इन सबका अभाव होता है।

वह 'है' तत्त्व तो बदलने वालों की सन्धि में भी वैसे ही रहता है। जैसे—समय चार बज गये, अब पांच बजना शुरू होगया, मानो चोथा घण्टा समाप्त हो गया और पांचवां घण्टा शुरू होगया, ...

'है' जैसा चौथे घंटे में था, वैसा ही पांचवें घण्टे में रहेगा। एक घण्टा समाप्त होकर दूसरा घण्टा शुरू होगा। दोनों की संधि में 'है' वैसा का वैसा ही रहेगा। वस्तुओं का आपसमें भेद होगा। पर सत्‌में भेद नहीं होगा। एक शरीर है और दूजा शरीर है दोनों शरीरों का अलगाव होगा। उन दोनों की सन्धि होगी; परन्तु सत् तो ऐसा ही रहेगा। क्रिया, घटना, देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि का परिवर्तन हुआ। मानो पहले जैसे थी, उसकी अपेक्षा अब और तरह की ही होगी। उनकी सन्धि भी होगी। आरंभ भी होगा और समाप्ति भी होगी, पर 'सत्' का न तो आरम्भ है न अभाव है, न सन्धि है। वह तो ज्यों का त्यों रहेगा। इसकी तरफ दृष्टि डालने में क्या जोर आवे बताओ?

केवल सत्‌की तरफ ध्यान देना है, सत्‌की तरफ लक्ष्य करना है। जैसे, हम यहाँ बैठे हैं तो यहाँ का ही लक्ष्य है। अब इसको याद रखनेकी जरूरत नहीं पड़ती। ऐसे ही जो सत् सबमें परिपूर्ण है, उसको याद क्या रखें? याद रखना तो एक क्रिया होगी। याद करनेपर फिर भूलना हो सकता है। याद और भूलके बीच सन्धि होगी; परन्तु सत् 'में' सन्धि नहीं होगी, क्योंकि 'सत्' याद करने में भी है और भूल में भी है। अपनी जानकारी में भी है और अनजानपने में भी है। जागृत् में भी है, स्वप्न में भी है, सुषुप्ति में भी है। कोई बात याद आयी तो भी है, नहीं याद आयी तो भी है। वह तो 'है' ज्यों का त्यों रहेगा। केवल उधर ख्याल हो जाय कि ऐसे एक परमात्म तत्त्व है। इतना ख्याल हो गया, अब इसकी विस्मृति कैसे होगी? इसकी भूली कैसे होगी? भूल को भी वह प्रकाशित करता है, प्रकाशको भी, ज्ञान को भी, याद गिरी को भी प्रकाशित करता है। 'वह' तो है ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इसी को बोध कहते हैं। इसको ही ज्ञान कहते हैं, इसको ही जीवन्मुक्ति कहते हैं, इसका नाम ही तत्त्वज्ञान है। ऊँची-से-ऊँची बात यही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है और जाती है इनका आदर करने से सत् की तरफसे विमुखता हो जाती है, पर अभाव हो जायगा क्या? अभाव नहीं होता। यह जो अपना निर्णय है न कि यह हरदम रहता है अखण्ड, अभाव नहीं होता। यह जो अपना निर्णय हरदम रहता है, अखण्ड रुपसे। कितनी विचित्र बात है यह! स्वत: सिद्ध बात है यह। इसमें कोई नयी बात नहीं हुई। अभी मेरे कहने से कोई नयी बात सीख गये हो, ऐसी बात नहीं है। पहले लक्ष्य नहीं था इधर लक्ष्य हो गया। जैसे, हमने देखा यह माईक दीखता है। पहले माइक की तरफ न देखना हुआ, पर माइक का कोई अभाव थोड़े ही था। उसे देखा और दीखने लग गया। इसी तरह से यह 'है' तत्त्व है ज्यों-का-त्यों ही था पहले भी, अब भी है और अगाड़ी भी रहेगा। पहले, अभी, अगाड़ी—यह काल-भेद हुआ। सत् में तो भेद नहीं हुआ।

घटना, परिस्थिति, दशा इनमे परिवर्तन हुआ इनमें फरक पड़ेगा; परन्तु 'है' में क्या फर्क पड़ेगा? उसमें फर्क सम्भव ही नहीं है। कोई जन्मे, कोई मरे, नफे में नुकसानमें, आनेमें, जानेमें उसमें क्या फर्क पड़ता है? उसमें बिना किये स्वत: स्थिति है। 'सम दु:ख सुख:स्वस्थ' अपने 'स्व' में स्थिति है तो सुख-दु:ख आवे तो क्या? इनमें समान रहें, मान-अपमान में समान रहें, निन्दा-स्तुति में समान रहें। 'समलोष्टाश्मकांचन' पत्थर में, मिट्टिका ढ़ेलामें, सोना में क्या फर्क है? इन सबसे 'है' में क्या फरक हुआ? जीनेमें और मरने में क्या फरक हुआ? शरीर बीमार हुआ और स्वस्थ हुआ तो क्या फरक हुआ? संयोग और वियोग में क्या फरक हुआ? ठीक दीखता है न! 'है' ज्यों का त्यों है बस। इतनी सी बात है, लम्बी-चौड़ी नहीं है। पूर्ण हो गये एकदम। 'है' की तरफ दृष्टि रहे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

असत् की तो सत्ता ही नहीं है, असत्‌की सत्ता होवे तो हटे। अब सत् का अभाव नहीं तो कैसे हटे? 'है' ज्यों का त्यों है परिपूर्ण, सम शान्त स्वतः सिद्ध है। इसका कोई ध्यान नहीं करना है, चिन्तन नहीं करना है। ध्यान-चिन्तन में भी वैसे ही है। चिन्तन छूट गया तो भी वैसा ही है। ध्यान लगे, तो भी है, ध्यान नहीं लगे, तो भी है। वृत्ति लग गयी तो भी है नहीं लगी तो भी है। इसमें क्या फरक पड़ा? ठीक है न! बस, यही बात है। केवल उधर लक्ष्य करना है और कुछ करना नहीं है। कोई निर्माण नहीं करना है, न चिन्तन करना है, न समाधि लगाना है, न ध्यान लगाना है। 'है' ज्यों का त्यों है बस। क्या करना बाकी रहा? कैसी मौजकी बात है!

है सो सुन्दर है सदा नहीं सो सुन्दर नांय।
नहीं सो परगट देखिये है सो दीखे नांय।।

अब दीखे कैसे? वह तो देखने वाला है उसके प्रकाश में सब है। वह स्थिर है ज्यों-का-त्यों है। '**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।। तस्मादेवं विदित्वैनम्**'–इसको ठीक तरह से जानले तो शोक नहीं हो सकता, चिन्ता नहीं हो सकती। चाहे प्रलय हो जाय, चाहे घरवाले एक साथ ही सब मर जाय। क्या फरक पड़े? सब धन चला जाय तो क्या फरक पड़े? और धन आ जाय बहुत-सा तो क्या फरक पड़े? क्या समझे; बोलो महाराज! अब इसमें कोई जोर आवेगा क्या? यह जो कहा जाता है कि इस तत्त्व की प्राप्ति में कोई परिश्रम नहीं है, इसके समान सुगम कोई है ही नहीं, यह सच्ची है कि झूठी? बताओ! इससे सुगम काम है कोई? आप बताओ! आप कठिन कहते थे। हृदय से बताओ कि इसमें कोई कठिनता है क्या? श्रोता:–लगती तो नहीं है। पू० श्री स्वामीजी:–जब लगती नहीं है तो फिर क्यों मेहनत पकड़ो? लगती ही नहीं तो जबर्दस्ती क्यों

पकड़ो? श्रोता:-लगनकी कमी है, महाराजजी! पू० श्री स्वामीजी:—लगन की कमी कैसे हुई? अब क्या कमी रही लगन की? लगनकी जरूरत नहीं, यह तो है ही यों ही। श्रोता:—स्वामीजी! ये मानने पर भी अनुकूलता-प्रतिकूलता में एक शान्ति-अशान्ति होती है, यह तो महसूस होती रहती है। पू० श्री स्वामीजी:—अशान्ति और शान्ति दोनों दीखती है कि नहीं? यह बताओ! उस दीखने में शान्ति और अशान्ति कहाँ है? शान्तिका भी ज्ञान होता है और अशान्तिका भी ज्ञान होता है। शान्ति और अशान्ति दो तरह की है, पर ज्ञान भी दो तरह का है क्या? भेद है तो उस ज्ञान में, जो प्रकाशित होता है उसमें भेद है, पर प्रकाश में क्या भेद है? बोलो! श्रोता:-यह समझमें नहीं आती। पू० श्री स्वामीजी:—समझमें आना और नहीं आना—यह दीखता है कि नहीं? यह बताओ आप! ये दोनों एक ही जातिके हैं। जिस प्रकाशमें समझमें आना दीखता है और नहीं आना दीखता है, वह तो ज्यों-का-त्यों ही हुआ न, क्यों भाई? जो समझ में आयी, वह भी दीख रहा है और नहीं आयी, वह भी दीख रहा है। देखने वाला तो है ज्यों का त्यों ही है। समझने-न समझने से क्या फरक पड़ता है? क्योंकि समझने-न समझने से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। 'पायोरी मैंने राम रतन धन पायो'।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

साधन विषयक दो दृष्टियाँ

भीनासर धोरा
बीकानेर

१९-३-८३.

साधक को चाहिये कि वह अपनी अवस्थाकी तरफ देखे ही नहीं, केवल साधनमें तत्परतासे लगा रहे। एक तो यह दृष्टि है और दूसरी दृष्टि यह है कि हमारा कितना सुधार हुआ और कितना बाकी रहा? ऐसा विचार करके चलता रहे। इन दोनों में विरोध मालूम देता है, विरोध है भी। जब अपनेको सन्देह हो, तब कितना सुधार हुआ और कितना नहीं हुआ? यह देखना आवश्यक है। जहाँ सुधार नहीं हुआ है, उधर ही दृष्टि डालनी चाहिए। इतना हो गया, ऐसा करके सन्तोष नहीं करना चाहिये और जो बाकी रह गया है, उसके लिये घबराना नहीं चाहिये। उत्साह पूर्वक काम करना चाहिये। अपने को तत्परता से कर्तव्यकर्म-साधन में लगाये रखे। जैसे गीता ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' कर्तव्य कर्म करने में ही अधिकार है फल में कभी नहीं। इस वास्ते कर्मके फलका हेतु भी मत बन और अकर्मण्यता में भी आसक्ति न हो। यह बहुत श्रेष्ठ और ऊँची बात है।

मेरा साधन इतना ही बना, ऐसी ऊँची स्थिति मेरी नहीं हुई है। इस प्रकार देखने से एक बड़ी भारी गलती होती है। वह यह होती है कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण पर ममता हो जाती है। अहंता और ममता जिनका त्याग करना है, उनका त्याग न होकर

अहंता-ममता दृढ़ हो जाती है। नहीं तो अपने अन्तः करण और शरीर, इन्द्रियों में ही क्यों खोज करता है? खोज करनी है तो सब जगह करे। सब जगह नहीं करे तो एक जगह क्यों करता है? एक जगह खोज़ करने से इनकी ममता बनी रहती है और ममता जब तक बनी रहती है, तब तक साधन बढ़िया नहीं होता। ममता और अहंता ही बाधक है। इसवास्ते साधन कितना हुआ और कितना नहीं हुआ? यह ख्याल ही नहीं करे। अपने तो एक परमात्म-तत्त्व में ही लगा रहे। अपनी स्थिति देखते रहने से अहंता, ममता, परिच्छिन्नता, एकदेशीयपना यह मिटेगा नहीं। जब तक यह नहीं मिटेगा, तब तक वास्तविक स्थिति होगी नहीं। इस वास्ते अपने तो बस देखे ही नहीं कि कितना बना, कितना नहीं बना! अपने द्वारा कोई गल्ती तो नहीं हो रही है न? शास्त्र से, मर्यादा से विरुद्ध तो नहीं कर रहा हूँ। इतना ख्याल रखते हुए ठीक तरहसे करता रहे।

मनुष्य प्रायः करके अपनी वृत्तियोंकी तरफ देखता है कि हमारी वृत्तियाँ शुद्ध नहीं हुई। अभी तो फुरणा नहीं मिटी, हमारे तो राग-द्वेष नहीं मिटे, मन की चंचलता नहीं मिटी। ऐसा देखनेसे एक बड़ी गल्ती होती है कि वह अन्तःकरणकी स्थिति को अपनी स्थिति मानता है। वास्तव में अन्तः करण की स्थिति अपनी स्थिति नहीं है। अपने को तो अन्तःकरण से सम्बन्ध-विच्छेद करना है। अन्तःकरणकी वृत्तियां ठीक हो, तब तो ठीक हुआ और वृत्तियाँ ठीक नहीं है तो बेठीक हुआ—यह मानना गलती है। कारण कि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ तो बदलती रहती है। बहुत ऊँची अवस्था होने पर भी बदलती है और ऊँची अवस्था होने पर ही नहीं, सम्बन्ध-विच्छेद होने पर अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हो जाने पर भी पुरुषके अन्तःकरणकी वृत्तियां तो बदलती रहेगी। हाँ, उनकी वृत्तिमें निषिद्ध फुरणा नहीं होगी। शास्त्र विपरीत कोई चेष्टा नहीं होगी; परन्तु अन्तःकरणकी वृत्तियाँ तो बदलेगी ही। बदलना तो

इनका स्वभाव है। बदलने वाले से अपने को सम्बन्ध-विच्छेद करना है। इस तरफ ही ख्याल करें कि इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अच्छी हो, मन्दी हो, अपने को वृत्तियों से कोई मतलब नहीं। हमें इससे कोई लेन-देन नहीं। वृत्तियाँ होती है तो अन्तः करण में होती है, ठीक-बेठीक होती है तो अन्तःकरण में होती है, अन्तःकरण मैं नहीं हूँ।

'सम दुःख सुखः स्वस्थः' 'स्व' में स्थित रहे। अपनेमें कोई विकार नहीं है। एक सच्चिदानन्दघन है ज्यों-का-त्यों है। आप तो वही रहते हो, ऊपर से भाव बदलता है, क्रिया बदलती है, अवस्था बदलती है, दशा बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है; परन्तु इन सम्पूर्ण बदलने को देखने वाले आप तो नहीं बदलते हो। अपने में परिवर्तन कहाँ होता है? अपने में अगर परिवर्तन होता तो अवस्थाओं का भेद कैसे मालूम होता है? अवस्थाओं में भेद तो उसको मालूम होगा, जो अवस्थाओं में स्थित नहीं है, अवस्थाओं से अलग है, उसीको भेद मालूम देगा। जो अलग है, उसमें कोई भेद नहीं मालूम होता। परिवर्तन प्रकृति और प्रकृति के कार्य में होता है, वह परिवर्तन हरदम होता ही रहता है। वह परिवर्तन मिटेगा नहीं। अपने साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अनुभव करने से ही वास्तवमें अपना काम होगा।

इसी को गीता में कहा है—'गुणविभाग और कर्म विभागके तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता' (गी. ३/२८) और 'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है वही यथार्थ देखता है' (गी. १३/२९) जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्ता नहीं देखता' (गी. १४/१९) 'तत्त्व को जानने वाला सांख्ययोगी निस्सन्देह ऐसा माने कि मैं

कुछ भी नहीं करता हूँ' (गी. ५/८)। सम्पूर्ण क्रियाएँ होते हुए भी अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, इनके साथ। 'गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियों में जन्म का कारण है'(गी. १३/२१)। वह अपना किया हुआ है और अपने मिटाने से ही मिटेगा, मिटाने का दायित्व अपने पर ही है। जब तक इसके साथ सम्बन्ध मानता रहेगा, ठीक और बेठीक मानता रहेगा, तब तक सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा।

प्रश्नः—अन्तःकरणकी निर्मलता लक्ष्य नहीं है क्या?

उत्तरः—अन्तःकरणकी निर्मलता वास्तवमें स्वयंकी कसौटी नहीं है। अन्तः करण की निर्मलता और अन्तःकरण की मलीनता—ये दोनों दृश्य हैं। मलिनता भी दृश्य है और निर्मलता भी दृश्य है। स्वयं दृष्टा है, इसवास्ते इन्हें दृश्य समझकर अपने को अलग मानेगा तो इनकी बहुत जल्दी शुद्धि हो जायगी। इनकी शुद्धि पर ज्यादा ध्यान देगा तो जल्दी शुद्धि नहीं होगी। ममता मिटेगी नहीं। ममता ही मल है 'ममता मल जरि जाय'। साधक इस बातको ठीक समझता है, यह सिद्धान्त भी अच्छा समझता है; परन्तु ऐसे ख्याल नहीं होता है कि ऐसे देखने से ममता दृढ़ होती है। इस कारण विशेष ध्यान देता है कि देखो, मेरी वृत्तियाँ ठीक नहीं हुई। वृत्तियाँ तो एक-सी रहती ही नहीं कभी। बदलने का आपको ज्ञान होता है, बदलना आपसे अलग होता है, वह दृश्य है और आप दृष्टी हो। बदलने वाली चीज आपके जानने में आती है, फिर उसको अपना क्यों मानते हो?

थोड़ी बारीक बात है, पर बढ़िया बात है कि जीवन्मुक्ति स्वतः ही है। जो स्वाभाविक मुक्त होता है, वही मुक्त हो सकता है, बद्ध मुक्त नहीं हो सकता। बद्ध होता है, वही मुक्त होगा, मुक्त है वह क्या मुक्त होगा? समझ गये न! अपने को बद्ध मानता है, तब वह

मुक्त होता है। इस वास्ते बद्ध ही मुक्त होता है और यदि वास्तवमें बद्ध ही है तो वह मुक्त कैसे होगा? सत्‌का अभाव नहीं होता। सत्य का अभाव होगा ही नहीं। तो बात क्या है? कि बद्धपनेकी मान्यता है, उसे मिटानी है। अब मिटानी चाहो तो अभी मिटा दो, चाहे वर्षों के बाद मिटा दो और चाहे जन्मोंके बाद मिटा दो ये सब दृश्य है। मनुष्य स्वाभाविक ही मुक्त है, यह मुक्तिका अधिकारी है पूरा, एकदम। जिस किसी हालत में है, जिस किसी परिस्थिति में है, जैसी कैसी दशामें है, उस दशाके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, क्योंकि दशा बदलती रहती है और आप नहीं बदलता है। सम्बन्ध है तो नहीं, जोड़े नहीं बस, मुक्त स्वतः है ही! सम्बन्ध जोड़ता है, तब बद्ध होता है। सम्बन्ध जोड़ने और न जोड़ने में पराधीन नहीं है, अयोग्य नहीं है, निर्बल नहीं है, अनधिकारी नहीं है। मनुष्य अगर अनधिकारी है तो मुक्ति का अधिकारी कौन होगा? इस वास्ते यह सम्बन्ध न जोड़े बस। अब इसमें शंका हो तो बोलो!

प्रश्नः—स्वामीजी! आचरण कैसा ही हो, द्रष्टा बना देखता रहे?
उत्तरः—देखो! कैसे ही आचरण हो, यह नहीं कह सकते। उस अवस्था में यह कहा जा सकता है कि आचरणों को लेकर आप राज़ी और नाराज़ क्यों होते हो? यहाँ दृढ़ रहो आचरण कैसा ही हो, यह नहीं। अपने राजी और नाराज कैसे होते हो?

प्रश्नः—आचरण ठीक नहीं है, तब तो नाराजी होनी ही चाहिये न?
उत्तरः—होना चाहिये, तब तो फंसे ही रहोगे। आप राजी और नाराज क्यों होवो? दोनों को ही छोड़ो, अच्छेकोभी और मन्देको भी छोड़ो। वास्तवमें तो किसी के साथ आपका सम्बन्ध नहीं है। दोनों को छोड़दोगे तो मन्दा होगा ही नहीं। स्वतः अच्छा ही होगा। जो बुरा है, उसको अच्छा मानोगे तो अच्छा कभी नहीं होगा, क्योंकि ममता उसके साथ बनी रहेगी। यह ममता ही तो बुराई है। यह

थोड़ी बारीक बात है लेकिन साधक के लिये खास बात है। साधकको द्रष्टा नहीं रहना चाहिये, उपेक्षा करनी चाहिये। द्रष्टा बना रहेगा तो गल्ती है, बिल्कुल उपेक्षा करे, उधर से आँख मीच ले। अपने तो एक परमात्म-तत्त्व है, उस पर दृष्टि रखे। अच्छे और मन्दे पर दृष्टि क्यों रखे?

'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'।(गी. १३/५)

ज़ो निर्द्वन्द्व हो जाता है, वह सुखपूर्वक मुक्त हो जाताहै और जो द्वन्द्वोंमें फंसा रहता है, वह मुक्त नहीं होता। द्रष्टा रहना मैं नहीं कहता हूँ। दोनों की उपेक्षा करना कहता हूँ। दोनों से अलायदे हो आप! वह दृश्य रहेगा, आप द्रष्टा रहोगे और देखना—दर्शन होगा तो त्रिपुटी कैसे मिटेगी? और त्रिपुटी मिटे बिना कल्याण कैसे होगा? इसवास्ते देखना ही नहीं है। देखना है तो कुत्ते में क्यों नहीं देखते हो? दूसरे मनुष्यमें क्यों नहीं देखते? उनमें नहीं देखते तो इसमें क्यों देखते हो? इसमें देंखते हो तो सिद्ध हुआ कि इसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध आपने माना है, कुत्ते के साथ आपने माना नहीं। अगर आप चेतन-तत्त्व हैं तो तत्त्व जैसे कुत्ते में है, वैसे ही इसमें है और इसमें है, वैसा ही कुत्ते में है। निर्लिप्तता जब उसके साथ है तो इसके साथ भी होनी चाहिये। उसके साथ तो निर्लिप्तता है और इसके साथ नहीं है तो यही बन्धन है और क्या? विचार करो और बोलो!

प्रश्नः—इसका मतलब हुआ स्वामीजी! यह सब परिवर्तनशील है। इसको देखते रहें?

उत्तरः—परिवर्तन को देखो मत, परिवर्तनशील की उपेक्षा कर दो। **'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'** एक सच्चिदानन्दघन में मन लगाकर **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** अच्छा-मन्दा कुछ चिन्तन मत करो। तब ठीक होगा और अच्छे-मन्देके साक्षी बने रहोगे, द्रष्टा बने रहोगे तो

अच्छे और मन्दे दोनों के साथ सम्बन्ध रहेगा और दोनोंके साथ सम्बन्ध रहेगा तो द्वन्द्व रहेगा। द्वन्द्व ही बन्धन है। 'सुख-दःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि ' तू हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्यवस्तु परमात्मा में स्थित, योग और क्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो' 'हे अर्जुन! संसार में इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त हो रहे हैं; परन्तु निष्काम भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझ को सब प्रकार से भजते हैं'। इसवास्ते परिवर्तनशील को देखना नहीं, पर उससे विमुख होना है। देखोगे तो उसके सम्मुख हो जाओगे। सम्मुख होनेसे चिपक जाओगे।

'सुनहु तात माया कृत गुन अरुदोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअ देखिअ सो अविबेक।।'

दोनों को देखने वाले द्रष्टाको अविवेकी बताया। यह बात साधकके कब्जे में आ जाय, अधिकारमें आ जाय तो बहुत बढ़िया चीज़ है।

प्रश्न:-कब्जे में आजाने का प्रभाव तो फिर इन वृत्तियों के द्वारा ही देखा जायगा? **उत्तर**:-ना, वृत्तियों के द्वारा नहीं देखना है, वृत्तियों की उपेक्षा करना है। वृत्तियों के द्वारा देखोगे, तब तक तो कब्जे में नहीं आई है। जब तक वृत्तियों के द्वारा देखकर कसौटी लगाते है तब तक मैं कहता हूँ वह बात अधिकार में नहीं आयी है। वह स्थिति नहीं हुई है। वृत्तियों को लेकर कसौटी नहीं लगानी चाहिये। वृत्तियाँ सब-की-सब प्रकृतिमें है, पर आप प्रकृति के अंश नहीं हो, आप परमात्मा के अंश हो। इसवास्ते आपको परमात्माकी तरफ

देखना है, वृत्तियोंकी तरफ नहीं देखना है। 'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' यह प्रकृति है। असली बात समझमें आजाय तो वहाँ कोई कसौटी नहीं लगेगी। कसौटी यही है कि इनसे कोई मतलब नहीं है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है; न ठीक है, न बेठीक है; न अनुकूलता है, न प्रतिकूलता है। एक वही है- 'सम दुःख सुख स्वस्थः'।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

दूसरोंके हितका भाव

भीनासर धोरा
बीकानेर.

२३-३-८३.

मेरे मन में एक बात विशेषतासे आती है कि हम यह जानते है कि शरीर, कुटुम्ब, धन, जमीन, मकान आदि ये सब उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं। सदा हमारे साथ रहते नहीं, रहेंगे नहीं और रहना सम्भव नहीं है फिर भी 'ये हमारे साथ रहेंगे'—ऐसी धारणा बना रखी है, जो बिल्कुल गलती है। ये सब एकदम नष्ट हो रहे हैं, प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। जितना दृश्य जगत् है, वह सब अदृश्य हो रहा है। दीखनेवाले सब न दीखने में जा रहे हैं। भावरूपसे दीखने वाला संसार अभावमें जा रहा है। 'है' रूपसे दीखने वाले सब 'नहीं' में जा रहे हैं, फिर भी इनको साथ रखना चाहते हैं। इनके साथ रहना चाहते हैं। ये हमारे साथ रहें। जो मिला हुआ है, वह बना रहे तथा नया और मिल जाय—ये दो प्रकारकी इच्छा है। यह कहाँ तक उचित है बताओ? जो रहने वाली नहीं है, उसकी इच्छा करना, उसकी प्राप्ति के लिये समय लगाना, उसके लिये ही सोचना कि धन मिल जाय, कुटुम्ब मिल जाय, मान मिल जाय, बड़ाई हो जाय आदि-आदि पता नहीं, कितनी लाइन लगा रखी है? यह ठीक है क्या? यह सुधार कब करेंगे? किस दिन के लिये बाकी छोड़ा है, कब करोगे यह विचार?

आप जो काम करते हैं, वही काम करते रहें, पर उसे स्थायी न

मानें, और जो कुछ मिला हुआ है, यह स्थायी बना रहे—यह इच्छा न करें। बस, इतना सुधार करना है। काम-धन्धा आप जो करते हैं, वही करें। शास्त्रोंके अनुसार उत्साहपूर्वक काम करें; परन्तु उसका भरोसा न करें, स्थायी न मानें। यह हमारे पास रह जाय और अमुक-अमुक परिस्थिति बन जाय, इस इच्छाका त्याग करें। जैसी परिस्थिति बनने वाली है, वैसी बन जायगी। प्रतिकूल बनने वाली है तो प्रतिकूल बन जायगी। अनुकूल बनने वाली होगी तो अनुकूल बन जायगी। जो नहीं है उसकी आशा और उसका भरोसा—ये दो चीज़ छोड़ दें, बस। इनको छोड़ने में हम पराधीन नहीं हैं; क्योंकि यह बात समझ में आ गयी कि ये चीज़ें रहने वाली नहीं है। प्रत्यक्ष बात है कि ये सब नष्ट हो रही है। इसवास्ते इनका मोह, आशा, भरोसा न रखें,इनका त्याग कर दें।

बड़ी विचित्र बात है! हम यह सुनते हैं, समझते है, जानते हैं, मानते हैं कि ये रहनेवाले नहीं हैं फिर भी इनमें ही आकृष्ट होते हैं। तो केवल इनका जो आकर्षण है, उसको मिटाना है और कुछ नहीं करना है, फिर सब ठीक हो जायगा। आकर्षण में फायदा कोई-सा भी नहीं है और नुकसान सब तरह का है। आकर्षण रखने से पराधीन हो जाते हैं। **'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'** आकर्षण कैसे मिटे? इनको दूसरों की सेवामें लगावें, दूसरों को सुख पहुँचावें। यह भाव बना लें कि सबको सुख कैसे हो? सबको आराम कैसे मिले? सबके लाभ कैसे हो? सबका हित कैसे हो? यह सोचते रहें-**'सर्वभूतहितेरताः'** हमारी रति, प्रीति सबके हितमें हो जाय। अगर प्रीति ऐसी है कि हमारे लाभ हो जाय, हमारे संग्रह हो जाय, हमारा मान हो जाय तो यहाँ ही घाटा है। यह भाव बदल दें यह खास चीज है।

हमारे से जो बैर-विरोध रखें, उनका भी भला कैसे हो? उनको

शान्ति कैसे मिले? उनके लाभ कैसे हो? उनका हित कैसे हो? उनका कल्याण कैसे हो? यह सोचो। हमारा भाव ऐसा होना चाहिये। बड़ा भारी लाभ है इसमें। अन्त:करण बहुत जल्दी निर्मल होता है। किसी का भी अहित सोचनेसे अपना अन्त:करण मैला होगा और कर कुछ नहीं सकोगे। हमारे करनेसे कुछ हो जाय यह बात है नहीं। आप किसीका अहित सोच कर अहित नहीं कर सकते और हित सोचकर हित नहीं कर सकते; क्योंकि उनका सांसारिक हित-अहित उनके भाग्य के अनुसार होगा। हमारा भाव अगर दूसरों का हित करनेका होगा तो हमारा कल्याण जरूर हो जायगा। हमारा भाव यदि दूसरों के अहितका होगा तो हमारा पतन जरूर हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। कुछ नहीं कर सकेंगे, सिवाय इसके कि हम अपना कल्याण कर सकते है और अपना पतन कर सकते हैं।

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति, तेनेदं वर्तते जगत्।।

सर्पोंका, दुष्टोंका, चोरोंका, डाकुओंका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। इसीसे यह संसार बरत रहा है। नहीं तो संसार को चौपट करदें। चौर और डाकू किसीके पास धन रहने देंगे क्या? पर उनका मनोरथ सिद्ध नहीं होता। आप कितना हित कर लोगे! कितना अहित कर लोगे! कुछ नहीं कर सकोगे। हित करके दुनिया को निहालकर दो यह बात नहीं है। आपका भाव हित करने का होगा तो आप निहाल हो जाओगे और आपका भाव अहित करने का होगा तो आपका नुकसान हो जायगा। किसी के पास आपसे ज्यादा धन है तो आप उसे मिटा तो सकते नहीं तो क्यों जलन होने दो मनमें? यह मुफ्तमें आग क्यों लगाओ?

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

ऐसा भाव रखो तो आपके क्या नुकसान है? अन्तःकरण निर्मल हो जाय मुफ्तमें, बड़ा भारी फायदा होगा। बड़े-बड़े यज्ञ, दान तीर्थ, तप आदि करनेकी अपेक्षा ऐसे भावसे अन्तःकरण निर्मल जल्दी होगा। भीतरका मैलापन जल्दी दूर होगा। बड़े-बड़े शुभकर्मों से इतनी जल्दी नहीं होगा, पर आपको तो क्या है कि जब किसी सुखी को दुःखी देखते हैं, तब आपको चैन पड़ता है। बोलो कितना नुकसान है! यह कितनी खराब बात है! आप मुफ्तमें पापके भागी होते हैं और मिलना कुछ नहीं है। कोरा अन्तःकरण मैला कर लो भले ही। भाव गिरा कर अपना पतन करना है। बाजारमें भाव गिर जाते हैं तो घाटा लग जाता है और भाव तेज होने से मुनाफा हो जाता है।

हमने एक बात सुनी कि एक बार एसेम्बली (विधान सभा) में बात हुई कि ये जितने धनी हैं, ये सब निर्धन कैसे हों? तो कहा गया कि इन पर टेक्स लगाओ। टेक्स पर टेक्स लगाओ, जिससे किसी तरह ये धनी लोग निर्धन हो जायँ। यह बात जब बीकानेर दरबार ने सुनी तो वे बोले कि तुम भावना करते हो कि सब धनी निर्धन कैसे हो जाय? भावना ही करो तो अच्छी करो। सभी निर्धन धनी कैसे हो जाय—यह भावना करो। ऊन्धी (उल्टी) भावना क्यों करते हो! अरे, मनके लड्डू बनाये जायँ तो उसमें मीठा कम क्यों डालो? इसमें कौन-सा खर्चा लगता है! भगवान्‌से भी यही कहो कि महाराज सब सुखी हो जायँ, कोई दुःखी न रहे। अब भगवान् करें या न करें, भार उन पर है। आपका काम तो हो ही गया। किसी का भी अहित न हो। अहित तो हमारे बैरीका भी न हो। वह चाहे हमारे साथ बैर रखे, पर उसका भी हम अहित नहीं चाहेंगे—'सर्वभूतहितेरताः'। आप और हम ऐसा कर सकते हैं कि

नहीं? बोलो भाई! भाव कर सकते हैं। मैं भावका ही कहता हूँ। चीज़ वस्तु तो इतनी कहाँ से दोगे? और दोगे भी तो कितनी दोगे? लाखों, करोड़ों और अरबों रुपया हो तो भी सीमित ही होंगे, पर भाव असीम है। भाव से कल्याण होता है, वस्तु से नहीं।

नफा वस्तुमें नहीं, नफा भावमें होय।
भाव बिहूणा परसराम बैठ पूंजी खोय।।

भावमें स्वतंत्रता है तो अपने भावमें कमी क्यों रखो भाई? **उमा सन्त की इहहि बड़ाई। मन्द करत जो करहि भलाई।।** अपने तो भलाई करने का भाव रखो। होना करना हाथकी बात नहीं है। पर भाव गिराकर, किसी के अहितका भाव करके अपना अन्त:करण क्यों मैला करें? प्राणीमात्रके हितमें रति होनी चाहिये। अहित करने वालों को नरक और चौरासी लाख योनी होगी मुफ्त में। वहाँ न तो हित कर सकोगे और न अहित कर सकोगे तो मुफ्तमें क्यों नरकों में जाओ। हमें जो कुछ शरीर, वस्तु, पदार्थ आदि मिले हैं, उनके द्वारा सबकी सेवा करो, सबको सुख पहुँचाओ, ऐसा भाव होगा तो ये स्वभाविक दूसरोंकी सेवामें खर्च होंगे।

प्रश्न:—महाराजजी! जानते हैं कि भलाई करे, अच्छी है लेकिन पता नहीं, यह बुराई किस चोर दरवाज़ेसे आ जाती है?

उत्तर:-यह जो सुखकी इच्छा है, इससे मनुष्य बुरा काम कर बैठता है। उसीसे अशान्ति होती है। जो अशान्त होता है, वही अशान्ति पैदा करता है। दु:खी होता है, वही दु:ख देता है। सुखी होता है, वह किसीको दु:ख नहीं दे सकता। इनके कारण ही दु:ख देने की भावना होती है। कोई भी मनुष्य दूसरे का अनर्थ कर ही नहीं सकता, जब तक अपना अनर्थ पूरा न कर ले। अपना अनर्थ करके ही दूसरेका अनर्थ करता है; परन्तु सुखकी इच्छा के कारण मनुष्यका अपने अनर्थ की तरफ ख्याल ही नहीं जाता। वह समझता है कि मैं

दूसरेका अनर्थ नहीं करता हूँ। आप स्वयं तक तो न सांसारिक हित पहुँचता है, न अहित पहुँचता है। आप दूसरेका हित करें तो भी वह उसके स्वयं वहाँ तक हित पहुँचता ही नहीं। केवल आपको लाभ और हानि होती है।

प्रश्न:—सुख-दुःख किसे कहते हैं और इनकी निवृत्ति कैसे हो?
उत्तर:-देखो, एक मार्मिक बात है कि वास्तवमें सुख-दुःख है नहीं। हमारे मनके अनुकूल हो जाय तो सुख हो गया और मनके विरुद्ध होगया तो दुःख होगया। बाकी कुछ है नहीं सुख-दुःख! ये हमारे बनाये हुए हैं। एक कुम्हार था, उसके दो लड़कियाँ थी। उन दोनों का पास के गाँवमें विवाह कर दिया था। एक लड़की के खेती का काम था और दूसरी के मिट्टी के बर्तन का काम था। एक दिन कुम्हार लड़कियों से मिलनेके लिये गया। पूछा, 'बेटी, क्या ढंग है'? 'पिताजी, खेती सूख रही है। अगर पाँच-दस दिनों में वर्षा नहीं हुई तो फिर कुछ नहीं होगा।' दूसरी लड़की के यहाँ गया और पूछा तो वह कहने लगी 'पिताजी! बर्तन बनाकर सूखने केलिये रखे हैं, अगर दस-पन्द्रह दिनमें वर्षा हो गयी तो सब मिट्टी हो जायगी'। अब रामजी क्या करें बताओ? एक के वर्षा होने से सुख है और एक के वर्षा होने से दुःख है। जिसके वर्षा होने से सुख है उसके वर्षा न होने से दुःख है तो यह सुख-दुःख अपने बनाये हुए हैं। वर्षा हो जाय अथवा वर्षा न हो—यह हमारे हाथकी बात तो है नहीं। फिर क्यों सुखी-दुःखी होते हो? जो हो जाय, उसमें प्रसन्न रहो। जो होना होगा, वह होकर रहेगा।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

छूटने वाले को छोड़ना है

गोविन्दभवन
१९-२-८१. कलकत्ता.

ऐसी बढ़िया बात बताता हूँ, अगर मेरी बात पर ध्यान दें और थोड़ी सी हिम्मत रखें तो बडा भारी लाभ होगा। इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं है। ऐसी बात है। आप लोगों के सामने बहुत बार ऐसी बातें कही है कि भाई! परमात्म तत्त्व हमारे साथ नित्य-निरन्तर है और संसार का सम्बन्ध निरन्तर ही छूट रहा है। जो आपको छोड़ रहा है और छूट रहा है, उस सम्बन्ध को छोडना है और जिसका नित्य-निरन्तर सम्बन्ध बना ही रहता है, उसको पकड़ना है। इस बात को मैंने कई तरह से कहा है। यह सार बात है एकदम। फिर सुनलें, जो चेतन-तत्त्व परमात्मा परिपूर्ण है सामान्य रूप से, वह सदा है ज्यों का त्यों परिपूर्ण है। सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना में है ज्यों का त्यों रहता है। उसका संग कोई छोड़ सकता नहीं। किसी में ताकत नहीं कि उसका संग छोड़ दे। वह सदैव सबके साथ में नित्य-निरन्तर रहता है। जग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, प्रलय, सर्ग आदि सब अवस्थाओं में वह सबके साथ है ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। उसकी प्राप्ति में कि ञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है और उसकी प्राप्ति में समयका, कालका, भी काम नहीं है। वह नित्य प्राप्त है और संसार जिसको आप अपना मानते हैं। शरीर, संसार, पदार्थ ये कभी किसी के साथ

में एक क्षण रहे नहीं, रहेंगे नहीं और रह सकते भी नहीं। जो नहीं रह रहा है, जा रहा है, बड़ी तेजी से वियुक्त हो रहा है, उस वियुक्त होते हुए को छोड़ देना क्या बड़ी बात है?

छोड़ना क्या है? अपना न मानना, अपना सम्बन्ध न मानना। 'केवल सम्बन्ध न मानना'— इस बात को करना है और कुछ नहीं करना है। इनका मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है और परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध अटल है ही। केवल इतनी बात को मान लेना है तो अभी प्राप्त हो जाय, अभी सम्बन्ध छूट जाय, अभी दुःख मिट जाय, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्म तत्त्व प्राप्त है और संसार सदा ही अप्राप्त है। एक क्षण भी आप के साथ नहीं है। निरन्तर बह रहा है। इस पर आप डटे रहें। आपका एक यही काम है। अब मैं जो बात बताना चहता हूँ, वह अब बताता हूँ। वह बात यह है कि यह जो आपके आज निश्चय में बात आ गई, इसको छोड़े नहीं, इस पर डटे रहें, लक्षण न देखें कि हमारे में ये लक्षण नहीं घटे, हमारे में यह नहीं आए। **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र करुण एव च'**आदि-आदि सिद्धों के लक्षण है, वे हमारे में नहीं आये। इस तरफ आप न देखें। अपने निर्णय पर डटे रहें। केवल यह बात ही आज आपको कहनी है। इसमें बेड़ा पार है। किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

अब इसमें थोड़ी सी बात समझें।जैसे अग्नि का ढ़ेर हो, उसमें एकदम पानी डाल दिया जाय। तो पानी डालने से अग्नि तो बुझ जायगी; परन्तु उस समय उस के भीतर कोई हाथ रख दे तो हाथ जल जायगा, फफोले हो जायेंगे। अग्नि तो बिल्कुल नहीं है उसमें; परन्तु हाथ रख दें तो हाथ जल जायगा। सिद्ध क्या हुआ? अग्नि तो बुझ गई, पर अग्नि का प्रभाव नष्ट नहीं हुआ। उसके नष्ट होने में देरी लगेगी। अग्नि के बुझने में देरी नहीं लगी, ऐसे ही वृक्ष काट दिया जाय, जड़ से काटकर अलग कर दिया जाय। वह तो कट ही

गया, अब पीछा हरा हो नहीं सकता; परन्तु उसकी जो पत्तियां है, वह कई दिनों तक गीली रहेगी, पतली टहनी की पत्तियां जल्दी सूख जायगी ;परन्तु हरी टहनी की पत्तियाँ जल्दी नहीं सूखेंगी। पेड़ के पास अगर पांच, दस पत्तियाँ हो, वह कई दिनों तक नहीं सूखेगी। तो इनके न सूखने पर भी वृक्ष हरा नहीं होगा। एक बार कट गया तो कट ही गया। इसी तरह से ही असत्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है उसको काट दो।

परमात्मा के साथ हमारा नित्य-सम्बन्ध है उसको मान लो। न मानो तो एक ही कर लो। परमात्मा के साथ सम्बन्ध को अभी रहने दो। संसार के साथ सम्बन्ध हमारा है ही नहीं। इसको काट दो, बिलकुल नहीं है। कितना ही आपको दीखे। कितना ही आप पर असर हो जाय। कितनी ही वृत्तियाँ खराब हो जाय। तो भी इस निर्णय को मत छोड़ो। इस के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। जैसे पेड़ कटने पर भी पत्ती हरी रहती हैं, ऐसे पुराने प्रभाव से असर पड़ जाय, वृत्तियाँ भी खराब हो जायँ तो भी इनसे घबरावो नहीं। उसमें समय लगेगा। जैसे आग पानी डालते ही बुझ गई बुझने में समय नहीं लगा; परन्तु ठण्डी होने में समय लगेगा। इसी तरह से परमात्म-तत्त्व है और संसार नहीं है। इसका सम्बन्ध नहीं है। संसार कैसा है? कैसा नहीं है? इसकी कोई जरूरत नहीं है, हमारे साथ इसका संबंध नहीं है।

जैसे बाल्यावस्था के साथ आपका सम्बन्ध नहीं रहा। बूढ़े हो गये तो जवानी के साथ सम्बन्ध नहीं रहा तो अब वृद्धावस्था के साथ सम्बन्ध कैसे रहेगा? शरीर के साथ में सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। गर्भ में आये तब से लेकर सौ वर्ष की ऊमर तक निरन्तर वियोग हो रहा है आपका वियोग तो है ही। अब इस बात को आप मान लें तो वियोग आपका हो गया, हो गया, हो ही गया। अब

उसका प्रभाव आपके देखने में न आवे तो उसकी आप चिन्ता मत करो। इतनी बात मेरी मान लो। चाहे बोध होने में कई वर्ष लग जायँ तो भी परवाह नहीं; परन्तु कट गया, इसमें किञ्चिन्मात्र मन्देह नहीं। जितनी यह दृढ़ता होगी आपकी, उतना जल्दी प्रभाव नष्ट हो जायगा। और इसमें ढ़ीलाई करते रहोगे जहां प्रभाव नहीं दीखा, पीछा इस बात को ढ़ीला करते रहोगे, तो भाई! ऊमर भर भी शान्ति नहीं होगी। आपको दीखेगा नहीं, अनुभव नहीं होगा, इस बात को ढीला करते रहे तो।

एक ही बात पर आप कृपा करके आज दृढ़ता कर लो। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका' भगवान् कहते हैं उसकी निश्चय वाली बुद्धि एक ही होती है। **'भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसां व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।'** (गी. २/४४) भोग और ऐश्वर्य में आसक्त है, उनकी बुद्धि निश्चय नहीं करती। तो बुद्धि के निश्चय न करने में एक तो रुपयोंके सग्रंह का आग्रह है और एक सुख भोग का आग्रह है। ये दो महान् आग्रह है। इसके सिवाय कोई बाधा नहीं है। 'मेरे रुपये रह जायँ', ज्यादा सग्रंह कर लूं और सुख भोग लूँ—ये दो महान् बाधाएँ हैं। इनकी परवाह मत करो। सच्ची बात यही है। कितना ही रुपया प्यारा लगे, कितना ही भोग प्यारा लगे; परन्तु ये छूटेगा जरूर। क्या पता? ख्याल करके सुनना, बहुत दामी बात है।

भोग कितना ही प्यारा लगे, उससे ग्लानि होती है, उससे उपरति होती है, उससे आप स्वयं सम्बन्ध-विच्छेद करते हो उसका तो आप आदर करते नहीं और संयोग का आदर करते हो—यह बड़ी भारी गलती होती है। लाखों रुपये आपके पास में पड़े हैं और अभी इन्क्वायरी आ जाय तो मन से चाहते हैं कि अभी रुपये पास में नहीं रहते तो अच्छा था। उस समय में उनका नहीं होना चाहते हैं, पर

उस बात को आप आदर नहीं देते हो। ऐसे ही परमात्मा के सम्बन्ध को और संसार के वियोग को आप आदर नहीं देते हो, महत्त्व नहीं देते हो। यही बड़ी भारी गलती है और कोई गलती नहीं है।

संसार के संयोग को आदर देते हो और परमात्मा के वियोग को आदर देते हो—ये दो बहुत बड़ी गलतियां हैं। इन दोनों गलतियों को आज मिटा दो अपने मन से। फिर दीखे तो कोई परवाह नहीं। संयोग का प्रभाव दीखे, न दीखे। संसार के वियोग का प्रभाव दीखे, न दीखे। प्रभाव की तरफ आप मत देखो। प्रभाव न दीखे तो अपने निर्णय में ढिलाई मत लाओ बिलकुल! सच्ची बात यही है। उसके सच्चेपन में कोई सन्देह हो तो तर्क करो, विचार करो, पूछो, पुस्तकें आने मत हो। वह सन्देह जितना हो, तर्क से दूर कर दो। परमात्मा का नित्य-निरंतर हमारा सम्बन्ध है और संसार का सम्बन्ध नित्य- निरंतर हमारे से मिट रहा है। इसमें कोई सन्देह हो तो तर्क से दूर कर दो। परमात्मा का नित्य-निरंतर हमारा सम्बंध है और संसार का सम्बन्ध नित्य-निरंतर हमारे से मिट रहा है। इसमें कोई सन्देह हो तो तर्क चाहे जितनी करो। चाहे जितनी आप शंका करो; परन्तु उस निर्णय में आप शंका मत करो। निर्णय कर लेने के बाद अब सन्देह मत करो।

लड़का-लड़की का सम्बन्ध के लिए सगाई नहीं हुई, तब तक कई लड़के कई लड़कियाँ देखते हैं। सम्बन्ध होने के बाद देखते ही नहीं। अब तो हो गई, हो गई, हो ही गई सगाई। इसमें सन्देह मत करो। इसी तरह से हमारा भगवान के साथ सम्बंध था, और है और रहेगा। कभी दूर हो नहीं सकता,सच्ची बात है और संसार का सम्बन्ध हमारा नहीं था, नहीं है, नहीं होगा और नहीं रहेगा। ये चारों बातें याद कर लो। पहले संसार से सम्बन्ध नहीं था और अगाड़ी संसार का सम्बन्ध नहीं रहेगा। अभी भी संसार का

सम्बन्ध वियुक्त हो रहा है और संसार का सम्बन्ध रह सकता नहीं--ये चार बातें हैं। पहले था नहीं, पीछे रहेगा नहीं, और अभी भी है नहीं। और इसका सम्बन्ध रह सकता नहीं, रहता ही नहीं, असंभव बात है।

परमात्मा का वियोग पहले हुआ नहीं, अभी है नहीं, अगाड़ी वियोग होगा नहीं और वियोग हो सकता नहीं। भगवान् की ताकत नहीं कि आपसे अलग हो जायँ। इतना अकाट्य सम्बन्ध है इसमें जितनी शंका करनी हो, करो। यह आपका पक्का निर्णय है तो इस निर्णय के ऊपर आप दृढ रहो। चाहे कितना ही वियोग हो जाय, चाहे कितनी ही वृत्तियाँ खराब हो जायँ, कितना ही पतन हो जाय, इस निर्णय के ऊपर पक्के दृढ रहो। वह जितना पक्का रहेगा, उतनी बहुत जल्दी सिद्धि हो जायगी इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं है। इस निर्णय पर दृढ रहना है। नहीं तो भाई! दिन लगेगा। आप लक्षण देखकर के निर्णय में ढिलाई लाते हो, यह गलती होती है। हमारे देखने में नहीं आता। आचरण में नहीं आता। यह भाव हमारे बर्ताव में नहीं आता, यह बिलकुल गलत बात है और आ जाय तो कोई बात नहीं। यह बात तो सही है ,इसमें आप कच्चे मत पड़ो। इतनी बात मेरी मान लो, बात सही तो सही ही है। दो और दो चार ही होते हैं, तीन और पांच हो ही नहीं सकते। इसमें क्या सन्देह बताओ?

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

स्वाभाविकता क्या है ?

भीनासर धोरा.
बीकानेर

२८-३-८३.

बहुत बढ़ीया बात है। उधर ख्याल किया जाय तो बहुत ही लाभ की बात है, बड़े भारी लाभ की बात है। एक होती है स्वाभाविक बात और एक होती है अस्वाभाविक। स्वाभाविक उसे कहते हैं, जो स्वतः सिद्ध है और अस्वाभाविक वह है, जो स्वतः सिद्ध नहीं हैं, किन्तु बनाई हुई है। परमात्म-तत्त्व और संसार-इन दो में देखा जाय, तो परमात्म-तत्त्व (चेतन-तत्त्व) का अंश यह जीव है और प्रकृति का अंश यह शरीर है। परमात्मा के साथ जीव का संबन्ध स्वाभाविक है, स्वतः सिद्ध है, और इसने जो शरीर और संसार के साथ सम्बन्ध माना है यह सम्बन्ध अस्वाभाविक है। इसकी पहचान क्या है? यह पहले नहीं और पीछे नहीं रहेगा, बीच में यह माना हुआ सम्बन्ध है जो कि अस्वाभाविक है तथा परमात्मा और इसका खुद का सम्बन्ध स्वाभाविक है। वह अस्वाभाविक नहीं है, स्वतः है।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी. १५/७) परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक है, और संसार के साथ हमारा सम्बन्ध कृत्रिम है अर्थात् बनावटी है। परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध असली है, बनाया हुआ नहीं है। वह तो स्वतः सिद्ध है, स्वाभाविक है। संसार का सम्बन्ध हमने बनाया है और

संसार को हम अपना मानते है-यह कृत्रिम है अर्थात् अस्वाभाविक है; परन्तु अस्वाभाविक में स्वाभाविक भाव हो गया।

जैसे, यह शरीर 'मैं' हूँ और कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति आदि मेरी है। मैं और मेरा- दोनों ही अस्वाभाविक है; परन्तु इन्हें स्वाभाविक मान लिया है कि यह तो बात ऐसे ही है। अब अभ्यास द्वारा इसको मिटाया कैसे जायगा? मैं-मेरे का भाव मिटाने के लिए हम अभ्यास करते हैं। जो अभ्यासजन्य बात होगी, वह अस्वाभाविक ही होगी। जो अस्वाभाविक है उसको मिटाने केलिये अस्वाभाविक उद्योग किया जाता है। इससे अस्वाभाविकता मिटती नहीं, क्योंकि अस्वाभाविकता का ही आदर किया जा रहा है। इस वास्ते अस्वाभाविकता को अस्वाभाविक मान लें कि संसार में जो मैं और मेरापन कर रखा है, यह है नहीं; क्योंकि यह पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा तो बीच में कहां है? बीच में जो अपना मानते हैं, उस अपने पन का भी प्रतिक्षण सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, मानो वियोग हो रहा है। जितने दिन आप और हम जी लिये, शरीर जी लिया, उतने दिन तो यह मर ही गया। उतने दिन तो शरीर का वियोग हो गया। अब जितने दिन साथ में रहना है, उतने दिन रहेगा, फिर वियोग हो ही जायगा।

शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं था और स्वाभाविक नहीं रहेगा और अस्वाभाविक माना हुआ सम्बन्ध भी अस्वाभाविक में पड़ा मिट रहा है। स्वाभाविकपना स्वतः हो रहा है, मानो अलगपना हो रहा है। अगर इस बात को अभी से मान लें, संयोग काल में ही वियोग का अनुभव कर लें। अस्वाभाविक के समय ही स्वाभाविक को दृढ़ता से मान लें कि यह मैं और मेरा नहीं है, क्योंकि पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा, अभी भी मिट रहा है। इसके साथ सम्बन्ध नहीं होने से हम 'निर्ममो निरहंकार' हो

जायेंगे। और 'निर्ममो निरहंकारः स शन्तिमधिगच्छति'। सब शान्ति चाहते हैं। शांति कैसे मिले? स्वाभाविक शान्ति आपके साथ में है, वह आपकी है, बिल्कुल अपनी खुद की है, इस वास्ते वह अच्छी लगती है। अशान्ति अपनी नहीं है और अपने को बुरी लगती है, अच्छी नहीं लगती। इससे सिद्ध हुआ कि अशान्ति आपकी नहीं है।

अशान्ति तो आपके अस्वाभाविकता में स्वाभाविक भाव कर लेने से पैदा हुई थी। अस्वाभाविकता को छोड़कर अब अगर जो वास्तविकता है, मानो स्वाभाविकता है, उसको आप अपना लें तो शान्ति हो ही जायगी। अशान्ति है ही नहीं, स्वतः ही शान्ति है। अशान्ति तो पैदा होती है और मिटती है, शान्ति न ही पैदा होती है और न ही मिटती है। शान्ति तो रहती है। अशान्ति को पैदा करके शान्ति को उद्योग साध्य मानते हैं। यह गलती करते हैं।

प्रकृति पुरुष का अलगपना, जड़ और चेतन का अलगपना यह स्वाभाविक है। और इसके साथ एकता मानना यह अस्वाभाविक है। अब अस्वाभाविक को स्वाभाविक मान लिया तो इसको दूर करने केलिए ज्ञान करो, श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो, शास्त्र का अभ्यास करो, सत्संग आदि करो, पर ऐसे करने से यह दूर होगा-यह बिल्कुल गलती हैं। यह अलगपना तो स्वतः सिद्ध है। आप मूल में अगर ठीक तरह से स्वाभाविकता को स्वीकार कर लें तो इसके लिए उद्योग की क्या जरूरत है? और उद्योग करने से अस्वाभाविकता होगी; क्योंकि जो अभ्यास-साध्य चीज होगी, वो अस्वाभाविक होगी। इस वास्ते वर्षों तक उद्योग करते हैं, पर ठीक तरह से स्थिति नहीं होती। क्यों नहीं होती? कि अस्वाभाविकता का आदर कर रहे हैं। अस्वाभाविकता को स्वाभाविकता मानकर उद्योग के द्वारा अस्वाभाविकता को मिटाना चाहते हैं। और उद्योग

द्वारा करेंगे तो अस्वाभाविक को स्वाभाविक मान कर ही करेंगे। करते तो हैं सम्बन्ध-विच्छेद, पर हो रहा है दृढ़। ज्यों-ज्यों सम्बन्ध विच्छेद हो रहा है, त्यों ही त्यों दृढ़ हो रहा है। स्वाभाविकता आप स्वीकार कर लें कि वास्तव में इनके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है भाई! ये तो बनाया हुआ है।

आप अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र समझते हैं। यह तो शरीर धारण करने के बाद आप समझते हैं, इस शरीर में नहीं आए तो क्या पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे आप? बिल्कुल नहीं थे। ये जो अपने को वर्ण और आश्रम का मानना है, यह अस्वाभाविक है। स्वाभाविक नहीं है। बनावटी है, कृत्रिम है और इनकी क्या इज्जत है। जन्म हो गया तो हम ब्राह्मण हो गये साहब, हम क्षत्रिय हो गये, हम वैश्य हो गए, शूद्र हो गये। क्या हो गए? आपने एक चोला पहन लिया। मां-बाप से एक शरीर मिल गया। शरीर तो मां-बाप से ही मिला हुआ है। आपका नहीं है फिर आप ब्राह्मण कैसे हुए?

एक जरा कड़ी बात है, आपने पेशाब का इतना आदर कर दिया, पेशाब को इतना महत्त्व दे दिया। थोड़ा विचार करो आप! अन्त में यह है तो रज-वीर्य ही। यह अस्वाभाविक में स्वाभाविक भाव है कि हम तो ब्राह्मण हैं। अरे भाई! कब से हो तुम ब्राह्मण? हम तो बड़े हैं, छोटे हैं, हम तो मेहतर हैं। अरे तुम मेहतर कब से हो गए? न कोई छोटा है, न बड़ा है, हम स्वाभाविक ही परमात्मा के अंश है और शरीर स्वाभाविक ही संसार का अंश है।

अब इसमें दुरुपयोग करेंगे। अस्वाभाविकता में स्वाभाविकता कैसे लायेंगे? कि सब के साथ खाओ-पीओ। अरे, इस प्रकार तो धर्म-भ्रष्ट होने से बुद्धि और भ्रष्ट हो जायगी! स्वाभाविकता से बहुत दूर चले जाओगे; परन्तु इसीको आज अन्नति मानते हैं।

सबके साथ खाना-पीना करलो, सबके साथ ब्याह करलो; क्योंकि फर्क है ही नहीं। अब फरक कैसे नहीं है? पेशाब में तो फरक है ही। अलग-अलग पेशाब है। रोगी का अलग होता है, निरोग का अलग होता है। ऐसे अलग-अलग होता है। उसे अलग-अलग मानना ही पड़ेगा। और अगर मिला दो तो सब रोगी बनेंगे कि सब निरोग बन जायेंगे? शुद्ध और अशुद्ध को मिलाने से अशुद्ध शुद्ध बनेगा कि शुद्ध अशुद्ध बनेगा? आप थोड़ा विचार करो। अपवित्र और पवित्र दोनों चीजों को मिलाया जाय तो पवित्र अपवित्र हो जायगा कि अपवित्र पवित्र हो जायगा। अब उल्टा चलेंगे, क्योंकि कलियुग आगया, इस वास्ते उल्टी बात ठीक लगती है।

स्वाभाविकता को पहचान करके उसमें स्थित हो जाओ और व्यवहार ठीक तरह से मर्यादा में करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कुल में जन्म हुआ है तो जन्म के अनुसार ब्याह ठीक मर्यादा में करो। मर्यादा का पालन करो, अच्छी तरह से। जैसे खेल में स्वांग लेते है, मर्यादा का ठीक तरह से पालन करते है। वैसे ही कोई ब्राह्मण बना है, कोई क्षत्रिय बना है, कोई वैश्य बना है, कोई शूद्र बना है। बाप मेहतर बन गया, बेटा राजा बन गया खेल में। वहां पर बेटा उसको बाप कहे तो गलती हो जायगी न! खेल बिगड़ जायगा। इस वास्ते स्वांग में तो मेहतर ही कहो। 'ओ, वहां जाओ, वहां जाओ!' कि अन्नदाता! ठीक है, जाता हूँ।' स्वांग तो बिगाड़ना नहीं है, पर कृत्रिमता में फंसना भी नहीं है।

यह रुपया मेरा है, यह कुटुम्ब मेरा है, यह शरीर मेरा है। कितने दिनों से? यह ज्यादा हो गया तो हम बडे आदमी हो गये, रुपये थोड़े है तो हम छोटे हो गये। यह बड़ी पार्टी है, यह छोटी पार्टी है। अभिमान अपने में करने लग गये। भाई व्यवहार करो। छोटी पार्टी का, बड़ा पार्टी का व्यवहार करो। बड़ी पार्टी वही है, जो दूजे

को बडा बनावे। दूजे को जो छोटा बनावे, वह बड़ी पार्टी कैसे हुई? वह तो छोटी पार्टी हुई न! और छोटी पार्टी दूजों को बड़ी पार्टी बनावे तो बड़ी पार्टी तो छोटी हुई और छोटी पार्टी बड़ी हुई; क्योंकि बड़ी पार्टी को बड़प्पन छोटी ने दिया। छोटेके बिना ही वह बड़ा कैसे हो गया? इस वास्ते छोटी पार्टी तो बड़ी पार्टी की जनक है। छोटी पार्टी तो बाप है और बड़ी पार्टी बेटा है; क्योंकि वह छोटी पार्टी का बड़ा बनाया हुआ है।

धनवत्ता निर्धनों के द्वारा होती है या कि धनियों के द्वारा होती है? एक गांव में सब साधारण आदमी और एक लखपती हो तो वह बहुत धनी माना जाता है और जिस शहर में सब करोड़पति हों उसमें क्या इज्जत है उसकी? लाख रुपया होने से इज्जत है अथवा दूसरे लखपति नहीं होने से इज्जत है? बनावटी चीज को भाई बनावटी मानो। असली को असली मानो। मूल में असली परमात्मा का अंश है, यह वास्तविकता है और यह संसार सब उत्पत्ति-विनाशशील है। यह कोई वास्तव में स्थिर नहीं है। जो स्थिर नहीं है, उसको तो स्थिर मानते हैं कि वे स्थिर रहेंगे और वास्तव में जो स्थिर है, उस तरफ ख्याल ही नहीं करते। स्वाभाविकता क्या है कि 'अपनापन परमात्मा के साथ है' और संसार के साथ अपनापन मैं और मेरापन अस्वाभाविक है।

उसके साथ मैं और मेरेपन का व्यवहार कैसे करें? नाटक में करें ज्यों करो बड़ी शुद्धि से। बड़े सतर्क होकर, सावधानी के साथ करो। इसको सच्चा मान लिया, यह बिल्कुल गलती की बात है। यह तो स्वांग पहना हुआ है खेलने के लिए। इसे ही वास्तविक मान लिया। जैसे हरिश्चन्द्र बना, शैव्या बनी, रोहिताश्व बना और वह खेल समाप्त हुआ। जो शैव्या बना, उसको वह कहे कि तू तो मेरी रानी है, चल मेरे साथ में। 'अरे, मैं रानी तो क्या मैं तो स्त्री भी नहीं

हूँ। मैं तो पुरुष हूँ।' 'गवाह है हजारों आदमी। तू तो मेरी रानी है।' हजारों देखते हैं तो खेलने वाला क्या रानी हो गई? अब पुरुष भी स्त्री कैसे हो गई! 'मैं राजा हूँ, तू रानी है। मेरा बेटा है यह।' अरे भाई! यह तो बना है, खेल है, अवास्तविकता है। अब इसको ही वास्तविकता मान लिया। 'मेरी रानी है, मेरा बेटा है' गलती कर दी न! यह तो खेल है वास्तव में। इस तरह से संसार भी खेल है। वो खेल भीं बिगाड़ना नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, साधु, गृहस्थ, स्त्री, पुरुष सब को ठीक ढ़ंग से व्यवहार कर बराबर शास्त्र की आज्ञा में चलना है। खेल होता है, उसकी पुस्तकें होती है कि इस तरह से खेलो। ऐसे ही हमारी पुस्तकें हैं कि ऐसे व्यवहार करो। क्षत्रिय का यह कर्तव्य है, वैश्य का यह कर्तव्य है, शूद्र का यह कर्तव्य है, स्त्रियों का यह धर्म है, पुरुषों का यह धर्म है, साधुओं का यह धर्म है, गृहस्थों का यह धर्म है उन पुस्तकों के अनुसार खेल खेलें बढ़िया रीति से। पर हैं क्या?

हैं तो परमात्मा के, परमात्मा हमारे हैं। संसार का यह शरीर है, शरीर का संसार है। कुटुम्ब, धन सब संसार का है संसार के काम आ जाय, तो अच्छी बात; क्योंकि यह आपका नहीं है तो आपके पास रहेगा कैसे? रहेगा नहीं। कोरी अपनी बेइज्जती हो जायगी। लोभ हो जायगा। लोभ, क्रोध और काम के कारण नरकों में जाना हो जायगा। क्योंकि अस्वाभाविक में स्वाभाविक स्थिति कर ली। जो चीज स्वाभाविक होगी, वह ही रहेगी। अस्वाभाविक रहेगी कैसे? अस्वाभाविक को स्वाभाविक मान कर जो गलती की है, उसका दण्ड जरूर भोगना पड़ेगा। वह टलेगा नहीं। इस वास्ते अस्वाभाविक को स्वाभाविक माने कि स्वाभाविक को स्वाभाविक माने? बोलो। इसमें शंका हो तो बोलो?

प्रश्नः-संयोग काल में वियोग को स्वीकार करना भी तो अभ्यास

है? ना!अभ्यास नहीं है, बिलकुल नहीं है। संयोग काल में वियोग काल स्वीकार करना है स्वीकार करना अभ्यास नहीं होता। अभ्यास से भूल नहीं मिटती, भूल को भूल समझा कि मिट जायगी। उसके लिए अभ्यास नहीं करना पड़ेगा। किसी आदमी को नहीं पहचाना तो पूछते हैं कि 'भाई! कौन है? हम जानते नहीं।' कहता है 'अमुक हूँ, अमुक हूँ।' 'अच्छा, अब पहचान लिया।' इसमें अभ्यास करना पड़ा क्या?

छोरी कन्या की सगाई करते हो तो अभ्यास करते हो क्या कि मैंने छोरी दी या छोरी अभ्यास करती है? एक माला भी जपती है कि 'हमारी सगाई हो गई, हमारी सगाई हो गई'। अच्छा, आप ब्याहे हुए इतने बैठे हो, ब्याह की एक माला भी फेरी है क्या? अभ्यास किया है क्या? बोलो। अभ्यास की साधना दूजी होती है। स्वीकृति अस्वीकृति की साधना दूजी होती है। स्वीकृति होती है, वह तत्काल होती है, सदा रहती है। अभ्यास किया हुआ बिगड़ जाता है। अब उसको अभ्यास जन्य मान लिया आपने। इस वास्ते कभी होता है और कभी नहीं होता है। मूल में गलती हो गयी। थोड़ा सोचो! गहरा विचार करो, यह साधु हो गया तो उसने अभ्यास किया क्या साधु होने का? बताओ! अब मानने लग गये कि हमारे गुरुजी हैं तो गुरुजी मानने के लिए अभ्यास किया क्या? यह साधना और है अभ्यास की साधना दूजी है। और बोध की साधना, ज्ञान की साधना, दूजी है। दोनों साधना अलग-अलग हैं, पर यह मानते ही नहीं।

यह जो मेरी बातें आपको अच्छी लगती है, उनमें क्या बात है? कि मैं वास्तविकता की बात बताता हूँ जो स्वीकार करने मात्र से हो जाय। यह सुगमता आपको अच्छी तो लगती है, पर आपके मन में यह जची हुई है कि अभ्यास करने से ही होगा, ऐसे नहीं होगा।

अब आपने यह पकड़ लिया, हम क्या करें? अभ्यास होने से दूजी अवस्था बनती है। ध्यान देना एक मार्मिक बात है।

अभ्यास करो जो तो दूजी अवस्था बनेगी, अवस्था छोटी-बड़ी भले ही हो, पर बोध नहीं होगा। अभ्यास से बोध हुआ ही नहीं, कभी होगा ही नहीं। बोध हो सकता ही नहीं कभी। अभ्यास करते-करते अन्त में वास्तविकता को स्वीकार करने से ही बोध होगा और स्वीकार करोगे तभी संसार का सम्बन्ध विच्छेद होगा, अभ्यास से नहीं होगा। अभ्यास में तो संसार का सहारा लेना पड़ेगा शरीर का, इन्द्रियों का , मन का, बुद्धि का, इनका सहारा लेना पड़ेगा और जड़ता के सहारे से जड़ता का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा, दृढ़ होगा। अवस्था दूजी बन जायगी। नट रस्से पर चलता है तो अभ्यास करते-करते रस्से पर चलने लग गया अवस्था दूजी हो गई। ऐसे अभ्यास से अवस्था दूजी होती है, बोध नहीं होता। बोध कभी होगा तो विवेक से होगा। विवेक दोनों को ठीक अलग-अलग मानने से होगा। और अलग-अलग ठीक मानने से बोध हो जायगा, पर वह अभ्यास जन्य थोड़े ही होगा। जो बोध अभ्यासजन्य होगा वह मिट जायगा। जन्य होगा वह रहेगा कैसे? जन्य तो उत्पत्ति वाला होता है तो नाश होगा ही उसका। मन बुद्धि हमारे है नहीं, प्रकृति के हैं।

'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रियगोचराः'।। (गी. १३/५)।

'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं' (गी. १३/६) यह क्षेत्र है और एतद्‌थोवेत्तितं प्राहुः क्षेत्रज्ञ' क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध क्षेत्र से है। मैं अलग हूँ आपसे, इसमें अभ्यास करना पड़ा क्या? आपका कोई मत हुआ, उससे मेरा मत नहीं मिला, मैं अलग हूँ, यह अभ्यास करना पड़ता है क्या? बताओ? ये दोनों साधना है।

कम-से-कम इतनी बात आप समझो कि एक अभ्यास की साधना है और एक विवेक की सम्बन्ध-विच्छेद की साधना है। और विवेक है वो तत्काल सिद्ध होता है और सदा रहता है। और अभ्यास किया हुआ कभी दृढ़ हो जाता है, कभी अदृढ़ हो जाता है- ऐसी बातें अभ्यास में होती है। बड़ा गहरा विषय है। मनन करो इन बातों का, फिर शंका करो।

प्रश्नः—महाराज जी! यह संयोग में वियोग मानना और संयोग में वियोग की अनुभूति करना—ये अलग हैं क्या?

मानना और अनुभूति अलग-अलग हैं। मान करके अनुभव करो। मानना केवल याद करना नहीं है तोते की तरह। तोते की तरह याद कर लेना है न, वो मानना है। अनुभव है कि न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है। यह वास्तव में ठीक बात है, इससे शरीर के विकार को अपना नहीं मानोगे। नहीं तो शरीर के विकारों को अपने में मानोगे तो शरीर रोगी हो गया तो मानो मैं रोगी हो गया। शरीर कमजोर हो गया तो मैं कमजोर हो गया। तू कैसे कमजोर हो गया? शरीर मर जाय तो मैं मर गया-तू कैसे मर गया? तो क्या अभी तक हमने इस बात को स्वीकार नहीं किया? नहीं किया है, इस वास्ते दुःख पा रहे हैं। नहीं तो दुःख हो ही नहीं सकता। यह आप जानते हो कि आपको संयोग-वियोग से दुःख होता है कि नहीं होता, बताओ? होता है तो स्वीकार करने पर कैसे होगा, बताओ? दूसरे शरीर में और इस शरीर में क्या फरक है?

'**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा।।**'संसार से शरीर को अलग निकाल सकते हो? दिखा सकते हो? कह सकते हो कि संसार से शरीर अलग है, यह बता सकते हो क्या? बोलो! शरीर संसार के साथ एक है कि आपके साथ एक है? संसार के साथ है तो इसका विकार आपमें क्यों होता

है? स्वीकार कहां किया? बातें सुनी है, सीख ली है, याद करली है। ये ठीक अनुभव हो जाने के बाद दुःख नहीं होगा, जलन नहीं होगी, संताप नहीं होगा। आप विचार करो, फिर होगा क्या?

प्रश्नः—इस स्वीकृति का स्वरूप क्या है?
स्वरूप यही है कि फिर सुख-दुःख नहीं होगा। संयोग-वियोग का असर नहीं पड़ेगा। ज्ञान होगा। ज्ञान होना और चीज है, असर पड़ना और चीज हैं। एक प्रभाव पड़ता है, वह असर है जो और है। ज्ञान कुछ और है। ज्ञान है, वह विकारों को मिटाता है। ज्ञान नयी स्थिति पैदा नहीं करता।

प्रश्नः—यह ज्ञान कैसे हो?
ज्ञान कैसे हो, यह लगन लग जाय, बस हो जायगा। इसके बिना न भोजन भावे, न प्यास लगे, न नींद आवे, न बात सुहावे। यह कैसे हो? हो जायगा। है वो तो वास्तव में, हो क्या जायगा? उसकी जगह अज्ञान को लेकर उसके साथ रस ले रहे हो, इस वास्ते नहीं मिट रहा है। यहीं फेल हो जाते हैं। यह मत होने दो साहब। यह जँचती है कि नहीं मेरी बात! युक्ति संगत बात है, अनुभव सिद्ध बात है, शास्त्र-सम्मत बात है। शास्त्र-सम्मत, युक्ति-संगत, अनुभव-सिद्ध तीनों बातें है। फिर भी ख्याल ही नहीं होता कि स्वाभाविकता क्या है और अस्वाभाविकता क्या है?

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

विनाशी का आकर्षण कैसे मिटे ?

भीनासर धोरा
बीकानेर

६–४–८३.

प्रश्नः— महाराजजी! सुनते हैं, समझते हैं, जानते हैं फिर भी उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों, व्यक्तियों में आकर्षण हो जाता है। यह आकर्षण कैसे मिटे?

उत्तरः—देखिये, आपको यह पता तो लगा है। नहीं तो आज मनुष्यों के यह बात जचती ही नहीं है कि ये वस्तुएँ, पदार्थ, व्यक्ति उत्पत्ति-विनाशशील हैं और मैं 'स्वयं' उत्पत्ति-विनाशरहित हूँ। इतने अलगाव का पता लगना कम बात नहीं है। लोग तो एक ही मानते हैं। उनको इस बात का पता ही नहीं है कि हम रहने वाले हैं और ये उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। उनका तो **'कामोपभोग परमा एतावदि ति निश्चिताः'** (गीता १६/१०) कामना करना और भोग भोगना यही निश्चय होता है। आपने इतना देखा तो है कि भाई! ये उत्पत्ति-विनाशशील हैं। ये हमारे साथ नहीं रह सकते, हम इनके साथ नहीं रह सकते, ऐसा जो ख्याल होगया, यह काम कम नहीं हुआ है। यह भी आप साधारण मनुष्यों में देखो तो आपको पता लगे। पढ़े-लिखे लोगों के साथ बैठो तो पता लगे आपको। आप अपनी अवस्था पर विचार करो।

जैसे, पहले जब मैं आनंन्द आश्रम में आया था, उस समय सुबह सत्संग की बातें होती थी। उस समय भी आप आते थे। उस समय

आपकी क्या धारणा थी और आज आपकी क्या धारणा है?
श्रोता-महाराजजी! अन्तर तो बहुत हुआ है। बहुत हुआ है न! तो दो बातें हैं इसमें, पहली बात इतना अन्तर हुआ है तो आपको लाभ हो रहा है, और लाभ जरूर होगा; परन्तु अब विचार पक्का करलो कि हमें यही काम करना है। दूसरी बात यह है कि इतने लाभ में सन्तोष नहीं करना है; क्योंकि लाभ हुआ हैं हमारे; परन्तु जैसा लाभ होना चाहिए था, वैसे नहीं हुआ। तो हमारा उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों में आकर्षण होता है और हम स्वयं उत्पत्ति-विनाशशील नहीं हैं। शरीर, मन, बुद्धि इन्द्रियाँ आदि जितनी प्राकृतिक सामग्री है, वे परिवर्तन शील हैं; परन्तु हम स्वयं परिवर्तनशील नहीं है। यह बात आती है न समझमें! इस विषय को गहराई से समझो, बहुत लाभकी बात है!

हमारा जो होना पन है न, 'मैं हूँ'। इस होना पन की तरफ आप ध्यान दें। शास्त्र की तथा संतों की दृष्टि के अनुसार पहले भी मैं था और अगाड़ी भी मैं रहूँगा; क्यों कि पहले जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोग अभी हो रहा है और इस जन्म में जितने कर्म किये जाते हैं इन कर्मों का फल भोग अगाड़ी जन्म में होगा। तो पीछे का जन्म, अगाड़ी का जन्म और यह जन्म—ये तीनों जन्म हमारे विचार से सामने दीखते हैं और हम तीनों जन्मों में वही रहते हैं। तो वास्तव में 'मैं' नित्य हूँ और ये जन्म अनित्य हैं। इतनी बात तो समझमें आ ही जानी चाहिए। अब अपना जो होना पन है 'मैं हूँ', इसकी तरफ ख्याल करना है कि 'मैं' क्या हूँ? तो 'मैं हूँ' यह जो सत्ता है मेरा होना पन, यह मेरा स्वरूप है। अभी इसका स्पष्ट अनुभव न हो तो भी आप समझ लो कि मेरा जो होना पन है, वह जाग्रत् में भी है, स्वप्न में भी है और सुषुप्ति में भी है। तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत् अवस्था, स्वप्न अवस्था, और सुषुप्ति अवस्था। ये अवस्थाएँ

बदलती रहती है और 'मैं' तीनों अवस्थाओं में एक रहता हूँ, मेरे में परिवर्तन नहीं होता।

यह बात विशेष ध्यान देनें की है कि गाढ़ नींद में 'मैं' हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं होता है। मैं अभी सुषुप्ति में हूँ, मुझे होश नहीं है यह ज्ञान होने की प्रक्रिया में छ सन्निकर्ष (संबंध) है, वह जो सन्निकर्ष से ज्ञान होता है जैसे—'घटोऽयम्' ज्ञान हुआ तो घट के साथ हमारा सम्बन्ध हुआ नेत्रों के द्वारा तथा नेत्रों के साथ सम्बन्ध हुआ हमारे मन का और मन का संबंध स्वयं आत्मा के साथ हुआ तब हमें 'घटो यम्' ज्ञान हुआ—यह है सन्निकर्ष, तो हमें घटाकार ज्ञान मनके सम्बन्ध से हुआ। नेत्रों का सम्बन्ध घट के साथ हुआ, मन का सम्बन्ध नेत्रों के साथ हुआ और 'स्वयं' आत्मा का सम्बन्ध मन के साथ हुआ तो मन के संयोग से आत्मा में ज्ञान होता है। अगर मनका सम्बन्ध न हो तो आत्मा में ज्ञान नहीं होता। इस वास्ते ज्ञान गुणक आत्मा है न्याय की दृष्टि से। ज्ञान इसमें गुण है। आठ गुण हैं इसके, वे प्रकट होते हैं। आत्मा गुणों वाला है न्याय शास्त्र के अनुसार। वेदान्त और साँख्य कहते हैं कि इसमें गुण नहीं है, यह निर्गुण है, असंग है, ऐसी असंगता बताते हैं। तो अच्छे पढ़े-लिखों से मैंने पूछा है, मेरी बातें हुई है, मैंने कोई परीक्षा नहीं की है। उनसे यह बात समझ में आई है कि बिना मनके संयोगके ज्ञान नहीं होता। अच्छे पढ़े-लिखे सब शास्त्रों के जानकार वे कहते हैं कि बिना मन के संयोग के सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता तो हम कैसे समझें कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है? इस विषय में मेरी जो धारणा है, वह बताता हूँ। सुषुप्ति अवस्था में मैं हूँ- ऐसा ज्ञान नहीं होता; परन्तु सुषुप्ति में मेरे को कुछ भी ज्ञान नहीं था। जगने के बाद ऐसा अनुभव होता है कि मेरे को कुछ भी पता नहीं था। यह ज्ञान तो उस समय में हुआ है न?

प्रश्नः—महाराजजी! यह ज्ञान तो जगने के बाद हुआ है न?

उत्तरः—जगने के बाद तो स्मृति होती है। स्मृति का लक्षण न्याय में आता है '**अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**' अनुभव जन्य हो और ज्ञान हो, उसका नाम स्मृति है तो मेरे को कुछ भी पता नहीं था, यह भूत काल की बात कहते हो। यह वर्तमान की बात नहीं है। थोड़ा ध्यान दें आप! मेरे को कुछ भी ज्ञान नहीं, यह वर्तमान की बात तो नहीं है न? यह तो भूतकाल की बात है, और वर्तमान अभी जाग्रत-अवस्था में है। तो मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था, यह सुषुप्ति का ज्ञान है। भूतकाल की स्मृति होती है तो भूतकाल में ऐसा ज्ञान था, यह बात माननी पड़ेगी, नहीं तो मुझे कुछ भी पता नहीं था, यह कैसे कहते हो? और इसमें कुछ सन्देह भी नहीं है। तो मुझे कुछ भी पता नहीं था, और मैं सुख पूर्वक सोया था यह ज्ञान सुषुप्ति में है। और कुछ नहीं था, सब ज्ञान के अभाव का ज्ञान तो है ही। यह एक बात हुई।

दूसरी बात ख्याल करने की यह है कि जैसे मैं पहले जगता था, बीच में नीन्द आगई। अब मैं जगा हूँ तो हमारा स्वरूप (होनापन) पहले जाग्रत् में बीच में सुषुप्ति (गाढ नीन्द) में और अब जागने के बाद एक ही रहता है। अथवा जागता था तब तो मैं था और अब जगता हूँ तब मैं हूँ, तथा बीच में नीन्द में 'मैं' नहीं था—ऐसा होता है क्या कभी? नहीं होता तो अपने ज्ञान का भाव भी है। सुषुप्ति-अवस्था में और जगने के बाद अभी 'मैं' वही हूँ, तो मेरा होनापन तीनों अवस्थाओं में एक ही रहा। यह जो ज्ञान है सुषुप्ति का (सब ज्ञान के अभाव का ज्ञान और सुख पूर्वक सोया था, यह ज्ञान) इसमें मन, बुद्धि नहीं है। तो मन, बुद्धि के संयोग के बिना, अपनी सत्ता का ज्ञान कैसे होता है? तो स्वयं का ज्ञान स्वंय को है, यह मानना पड़ेगा। उस समय में दूसरी सामग्री का अभाव है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम्—ये सब नहीं दीखते, पर अपनी सत्ता का बोध तो है। इस सत्ता के बोध पर गहरा विचार करो।

जैसे मैं पन है, यह तो बदलता रहता है, मैं खाता हूँ, मैं सोता हूँ। मैं जाता हूँ; परन्तु मेरी सत्ता (होनापन) तो एक ही है। सुषुप्ति-अवस्था में मैं-पन तो अज्ञान में लीन हो जाता है ;परन्तु आप 'स्वयं' तो रहते हैं। 'मैं-पन' के भाव का अभाव का--दोनों का ज्ञान आपको खुद को होता है। अभी 'मैं-पन' का भाव है, सुषप्ति-अवस्था में 'मैं-पन' का अभाव होता है, तो 'मैं-पन' का अभाव होने पर भी मेरी सत्ता रहती है। तो 'मैं-पन'से अलग हमारी स्वतन्त्र सत्ता है 'मैं-पन' तो प्रकट और अप्रकट होता है, पर हमारी सत्ता अप्रकट नहीं होती, प्रकट ही रहती है। हमारी सत्ता के साथ जब 'मैं-पन' भी नहीं है, मन-बुद्धि भी नहीं है तो शरीरका साथ कहाँ है? और जब शरीर भी साथ नहीं है तो स्त्री, पुरुष, कुटुम्बी, साथ कहाँ हैं? ये भी साथ नहीं हैं तो मकान, रुपये, पैसे साथ कहाँ है? तो मैं खुद (स्वयं) तो इन से अलायदा हूँ, ये सब उत्पत्ति-विनाशशील हैं। इनको मैं जानता हूँ, ये सब मेरे जानने में आते हैं। ये सब उत्पत्ति-विनाशशील है इसका मेरे को ज्ञान है।

तीसरी बात, 'मैं' कल था, वही आज हूँ और रात्रि में भी मैं था, तो 'मैं' नित्य-निरन्तर रहता हूँ। ये निरन्तर नहीं रहते, मेरे सामने बनते-बिगड़ते हैं, मिटते हैं। इनको मैं महत्त्व देकर इनका आश्रय लेता हूँ, यह गलती करता हूँ। मैं जानता हूँ कि ये उत्पत्ति-विनाशशील हैं, ये मेरा आधार कैसे हो सकते हैं? ये मेरा आश्रय कैसे हो सकते हैं? ये मेरे को क्या सहारा दे सकते हैं? जो कि मैं इनसे अलायदा हूँ। ये सब मेरे जानने में आते हैं, सुषुप्ति में कुछ भी ज्ञान नहीं था, यह भी जानने में आता है, और जाग्रत्, स्वप्न में जो ज्ञान होता है, यह भी मेरे जानने में आता है। मैं (स्वयं) इन सब को जानने वाला हूँ, मैं जानने वाला, जानने में आने वाली वस्तुओं से अलग हूँ। इसमें कोई सन्देह है क्या? सन्देह नहीं है न? तो 'मैं'

इनसे अलग हूँ इस पर आप स्थिर हो जाओ। दिन में, रात में, सुबह-शाम, जब आपको समय मिले तब कहो कि मैं वास्तव में इनके साथ नहीं हूँ और ये मेरे साथ नहीं हैं। मैं इनके साथ सुषुप्ति में भी नहीं रह सकता तो मरने के बाद कैसे रहूँगा? और ये मेरे साथ सुषुप्ति में भी नहीं रह सकते तो सदा मेरे साथ कैसे रहेंगे? अतः इनका हमारा सम्बन्ध नित्य रहने वाला नहीं है। इसका ज्ञान तो प्रत्यक्ष होना चाहिये न?

संसार का आकर्षण न छूटे तो कोई परवाह नहीं ;परन्तु यह ज्ञान तो है न? कि इनके साथ मेरा नित्य-सम्बन्ध नहीं है। इस ज्ञान में तो सन्देह नहीं है न? यह बात आप धारण करलो। आकर्षण छूटे न छूटे, इसकी परवाह मत करो, पर मेरे साथ इनका संबन्ध नहीं है। पहले नहीं था, और फिर नहीं रहेगा। यह बात तो हमारे अनुभव की है। इस जन्म में भी जिस कुटुम्ब के साथ, जिस घर के साथ, जिन रुपये-पैसों के साथ, वस्तुओं के साथ आज हमारा संबन्ध है, यह संबन्ध पहले था क्या? और अगाड़ी भी रहेगा क्या? तो पहले हमारे साथ संबन्ध नहीं था, अगाड़ी इनका संबन्ध हमारे साथ नहीं रहेगा और जो अभी है, वह भी वियुक्त हो रहा है। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है, इस वास्ते मैं बार-बार कहता हूँ।

इतना तो ख्याल करो आप! आप जन्में जब, जितना जीना था, उस समय जितनी उमर थी, अभी उतनी उमर बाकी है क्या? तो उमर तो घट रही है न! जीना, मरने में जा रहा है न, संयोग मिट रहा है न! पहले शरीर नहीं था, फिर शरीर नहीं रहेगा। वर्तमान अवस्था में शरीर है, इस समय भी इससे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। यह बात तो समझ में आती है न,आकर्षण मत छुटो भले ही, पर इस बात को समझो आप, कि प्रतिक्षण शरीर के साथ वियोग हो रहा है। यह विवेक जितना दृढ़ होगा, उतना ही इसके छूटने में सहायता मिलेगी। जो सदा साथ में नहीं रहता, उसके साथ क्या

मोह करें? ये हमारे साथ रह नहीं सकते, इसमें कोई सन्देह है क्या? तो आप छूटता नहीं, इसकी चिन्ता मत करो, पर इस बात पर जोर दो कि वास्तव में इनके साथ हम नहीं है और हमारे साथ ये नहीं है। जड़ कट गयी इस सम्बन्ध की, इतनी बात होते ही। इनका संबन्ध जो आज दृढ़ दीखता है और आज आप कहते हो कि यह छूटता नहीं है। इसकी जड़ कट गयी आज। इस पर दृढ़ रहो कि ये हमारे साथ हरदम रहने वाले नहीं हैं। तो इनकी ममता छोड़ने में क्या जोर आता है?

प्रश्नः—इस पर दृढ़ कैसे रहें?

उत्तरः—इसका चिन्तन करके, इस पर विचार करके इस पर दृढ़ रहो कि बात यही सच्ची है। इनके साथ हम हरदम नहीं रहते। १. पहले नहीं थे २. पीछे नहीं रहेंगे और ३. वर्तमान अवस्था में भी नहीं रह रहें हैं, यह तीन बात है। इसमें सन्देह नहीं है, तो इस बात का आदर करो, इस बाबात को महत्त्व दो। जैसे आजकल अगर १० रुपये भी मिल जायँ तो उसका आदर होता है, १०० मिलजाय तो उनका आदर होता है, पर यह बात लाखों और करोड़ो रुपये देने पर भी नहीं मिल सकती। क्या रुपयों के बल पर यह बात मिल सकती है? हाँ, कोई पण्डित बता देगा, पढ़ा देगा; परन्तु ठीक तरह से यह बात रुपयों के बल पर नहीं मिलती। कितने ही रुपये मिल जायँ तो भी रुपयों से सन्तोष नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती और इस बात को ठीक तरह से समझने से शांति मिलती है। अगर कुछ नहीं मिलता तो इतनी जल्दी इतने आदमी यहाँ जगांल में क्यों आते हैं? इससे सिद्ध होता कि कुछ न कुछ मिलता है। यह बहुत विचित्र ढंग की बात है। इस बात का आदर कम करते हैं, इस बात को महत्त्व नहीं देते हो, यहाँ गलती होती है। यह गलती कैसे मिटे?

आज से ही इस बात को महत्त्व दो कि यह बात वास्तविक है।

और वर्तमान में लाभ होता दीखता है। क्या लाभ दीखता है कि पहले कोई चीज खो जाती थी तो कितनी चिन्ता होती थी? और आज वैसी चीज खो जाय तो कितनी चिन्ता होती है? इसमें नाप करोगे तो मेरी समझ में आपको फरक मालूम देगा। फरक पड़ा है तो इतना छूटा है न! तो छूटेगा नहीं यह कैसे कहते हो! पहले पकड़ में जितनी दृढता थी, उतनी दृढ़ता है क्या आज? तो छूट रही है न! सर्वथा नहीं छूटा, यह बात भी ठीक है। इसमें सन्तोष मत करो; परन्तु छूटता नहीं है, यह कैसे मानते हो? आप से छूटता नहीं है, यह बात मत मानो और सर्वथा छूट गया, यह बात भी मत मानो, क्योंकि सर्वथा छूटा नहीं है; परन्तु छूट तो रहा है। यह निश्चित समझो कि यह छूटने वाला है; क्योंकि इनके संबन्ध में कमजोरी आई है। तो यह छूटने वाली वस्तु है। अगर छूटने वाली वस्तु नहीं होती तो पकड़ कम कैसे होती? गीता कहती है-'नाभावो विद्यते सतः-' सत् का अभाव नहीं होता, पर इसका अभाव होता है। कम होती है, तो अभाव हुआ न? तो इस बात से यह बल आना चाहिये कि यह तो छूटने वाली है। अगर छूटने वाली नहीं होती तो कम कैसे होती? और कम हुई है तो सर्वथा भी छूट जायगी, जरूर छूटेगी-इसमें कहना ही क्या है! कम होती है, वो मिटती है यह अगर कम होती है तो इसकामिटनाभी होगा। इसकी उमर कम हुई है तो यह मरेगी, जीयेगी कैसे?

संबन्ध छोड़ना और पकड़ना हमें आता है। माँ-बाप का संबन्ध हुआ, स्त्री-पुत्र का संबन्ध हुआ। तो सांसारिक-संबन्ध तो नये-नये होते रहते है तथा पुराने संबन्ध छूटते जाते हैं, पर भगवान् के साथ में हमारा संबन्ध वास्तविक है। संसार के साथ हमारा संबन्ध वास्तविक नहीं है। शास्त्रों से, सन्तों से यह बात मालूम होती है। हम भी अनुभव करें तो भगवान् के साथ हमारा संबन्ध श्रद्धा से ही सही; न दीखे भले ही; परन्तु संसार का संबन्ध तो

छूटता है, यह प्रत्यक्ष दीखता है न, तो यह छूटता नहीं, ऐसी हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। यह तो छूट रहा है। आप नहीं छोड़ोगे तो भी यह छूटेगा ही। लेकिन आप नहीं छोड़ोगे और छूट जावेगा, तो वो फिर पकड़ा जायगा, और आप छोड़ दोगे तो फिर पकड़ा नहीं जायगा। यह छूटता नहीं, यह बात मत मानो। यह छूट रहा है, इतना सुधार करलो आज से। यह नहीं छूटता, यह भावना बहुत खराब है। इस वास्ते यह मानले कि यह छूट रहा है और हम छोड़ रहे है। हम जो सत्संग कर रहे हैं, यह छोड़ रहे हैं। **'का परदेशी की प्रीति आवतो बार न लावे'** यह तो सब जा रहा है।

'का मांगू कछु थिर न रहाइ, देखत नयन चल्यो जग जाई' अब किसके साथ प्यार करें, किसको रखें, किसको अपना मानें। **'रज्जब रोवें कौन को हसे सो कौन विचार। गये सो आवन के नहीं रहे सो जावन हार'** ये तो जा रहें हैं, इस बात पर दृढ़ रहो। छूटती नहीं, यह मत मानो, अब छूटती है, उसको मानो। छूटती नहीं,-यह उल्टी बात क्यों मानो! छूट रही है यह तो! श्रोता—परन्तु ये हमें अच्छी लगती है, महाराज जी!

अच्छी लगती है, पर छूटती है, कोई बात नहीं। परवाह मत करो। आप अच्छी लगने से घबराओ मत। ये छूट रही है, इस बात पर दृढ़ रहो। वस्तुएँ अच्छी लगती है, पर छूट रही है। जड़ कट जायगी अच्छेपन की। अच्छी तो लगती है, पर रहेगी नहीं।

कितनी बढिया बात है! कितनी ही अच्छी लगे, पर रहने वाली नहीं है। जवानी अच्छी लगती है, पर रहेगी नहीं। स्त्री-पुत्रादि का संयोग अच्छा लगता है, पर रहेगा नहीं। बस इतनी बात याद रखो। यह बात तो सच्ची है न? श्रोता—हाँ जी! रहेगी नहीं तो अच्छी कैसे लगेगी, अच्छा पन कम होता जायगा। अब परवाह नहीं इसकी! अपना काम हो रहा है, छूट रहा है!

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

कर्म अपने लिये नहीं

भीनासर धोरा
बीकानेर

८/४/८३.

राम राम राम............

भगवान ने कृपा करके मानव शरीर दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल भगवत्प्राप्ति के लिये ही मनुष्य शरीर की रचना की गयी है। इस मनुष्य शरीर में आ कर अपने लिए कर्म ये न करे अपने लिये यह करती है तो उसका इसको पाप और पुण्य दोनों लगते है। ठीक काम करता है तो पुण्य लगता है, और शास्त्रनिषिद्ध करता है तो पाप लगता है। इन दोनों से बचें कैसे? अपने लिये न करें तथा औरों केलिए करें; क्यों कि यह मनुष्य शरीर सम्पूर्ण संसार की सेवा करने के लिये है। भगवान् ने इसको बड़ा अधिकार दिया है कि मात्र जीव-जन्तु की यह सेवा करे, मनुष्यों की यह सेवा करे, ऋषि मुनियों की यह सेवा करे, पितरों की यह सेवा करे, देवताओं की यह सेवा करे, और तो क्या भगवान् की भी सेवा करे। भगवान् भी इससे चाहते हैं।

आप थोड़ा ध्यान दें। भगवान् के इतनी भूख है जो अर्जुन को चुपके से कहते है 'सर्व गुह्यतमम् भूय' बहुत गोपनीय बात कहता हूँ। जैसे, कोई कान में बात कहे, ऐसे कहते है। मेरे ये परमवचन हैं। क्या हैं महराज वो? कि 'सर्वगुह्यतम है। सुन, तू प्रेम रखता है इस वास्ते कहता हूँ। **'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'** (गी. १८/६५) बस मेरे ही अर्पण कर, मेरी सेवा कर,

सब धर्मों को छोड़कर मेरे शरण आ जा। इस जीव की गरज भगवान् को भी है कि ये सेवा करे, मेरी तरफ ही आ जाय। तो सबकी सेवा करने लायक भगवान् ने इस मनुष्य को बनाया। अपनी खुद की भी गरज पूरी करने के लिए भगवान् ने मनुष्य को बनाया। तू मेरी ही सेवा कर, मेरी ही शरण आ जा। तू जो खुद चाहता है, गलती करता है, दरिद्रता करता है, महान् पतन की तरफ जा रहा है। तू मेरी ही सेवा कर। तेरे जो चिन्ता फिकर है, वह सब मैं दूर कर दूँगा। तेरी कमी की चिन्ता तू क्यों करता है? सब चिन्ता मैं दूर कर दूँगा। सब पापों से मैं मुक्त कर दूँगा। तू केवल मेरी शरण आ जा। मनुष्य मात्र जीव की सेवा कर सकता है और साक्षात् भगवान् की सेवा, जो भगवान् की कमी भी पूरी करदे। जिनमें कमी कोई नहीं है, किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है— ऐसे भगवान् की भी पूर्ति यह कर सकता है। ऐसा मनुष्य शरीर दिया है। अब ये केवल अपने स्वार्थ का त्याग करके अपने लिए न करके सब दुनिया के हित के लिये ही काम करने लग जाय। केवल अपना स्वार्थ त्याग करदे तो इसका कल्याण हो जाय। इसके लिये कुछ नहीं करना है। केवल दूसरों की सेवा के लिये काम करें बस। अपने लिये कुछ नहीं करना है। तो कल्याण इसका स्वतः हो जाय, स्वाभाविक हो जाय। ऐसी बात दीखती है, गीता के देखने से पता लगता है—

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजनन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। (गी. ९/२४)

सम्पूर्ण यज्ञों का व तपों का भोक्ता मैं हूँ, और सब का मालिक मैं हूँ, पर मेरे को नहीं जानते इस वास्ते पतन होता है। सब यज्ञों और तपों का भोक्ता क्यों? कि खाना-पीना, बैठना-उठना, सोना-जगना, चलना-फिरना, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, होम, सत्संग, स्वाध्याय आदि जो करना, केवल दुनिया मात्र के हित

मे लिये करना है। पाप, अन्याय नहीं करना है, केवल सेवा करना है। जो काम करें, सेवा भाव से ही करें। भगवान् की आज्ञा मानकर करें। भगवान् सब जगह है सज्जनो! इतने मात्र से सब का कल्याण हो जाय! इतनी बात बहुत विलक्षणता से जच रही है।

अभी गीता लिखाने का काम पड़ता है, उसमें मेरे को बहुत विचित्र अर्थ दीखता है। ये सीधी-सी बात, कुछ उद्योग नहीं करना है। भगवत्प्राप्ति के लिये उद्योग की, कोई नये काम की जरूरत नहीं है। निषिद्ध काम कोई न करें, विहित काम करें और मात्र दुनिया के हित के लिये करें। तो **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ।।'** (गी. १२/४) प्राणि मात्र के हित में केवल रत हो तो मेरे को प्राप्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। किस रूप की प्राप्ति होगी? तो कहते हैं 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' सगुण रूपकी प्राप्ति कहते है और कोई निर्गुण निराकार ब्रह्म की प्राप्ति चाहते हो तो, तो कहते हैं–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीण कल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (गी. ५/२४)

प्राणिमात्र के हित में रति करनी है, और कुछ नहीं करना है, केवल सेवा करनी है। केवल इतना ही कि जो काम करें, खाना-पीना, सोना-उठना, जप-तप ध्यान, तीर्थ-समाधि आदि करना, केवल सब की सेवा करने के लिये। इस भाव से इतनी ही बात है।

ध्यान देकर आप लोग सुनें, बहुत मार्मिक बात है, आप ख्याल कम करते है; क्योंकि मैं ने ख्याल कम किया है, इस वास्ते मैं जानता हूँ। ख्याल कम करता है आदमी। यह मेरे पर ही लगाता है।

केवल अपने स्वार्थ का त्याग और दूसरों के हित के लिये काम करना है। अपने लिये कुछ भी काम हम करते है तो उस काम का

आरम्भ होता है और उस काम की समाप्ति होती है। आदि और अन्त होता है तो उससे मिलने वाला फल है, वो निरन्तर रहने वाला कैसे मिलेगा? आदि और अन्त वाला ही मिलेगा। हम अपने लिये कुछ करेंगे तो आदि और अन्त वाला ही फल मिलेगा। आदि- अन्त वाली क्रिया होगी और आदि अन्त वाला ही फल मिलेगा।

और दूसरों के हित के लिये ही काम करेगें, तो ये आदि-अन्त वाला नहीं रहेगा, हमारे लिये आदि-अन्त है ही नहीं, क्योंकि हम तो निरन्तर करते है, दूसरों के लिये ही करते हैं। उसमें भी करने की क्रिया का आदि और अन्त तो होगा। आदि और अन्त तो होगा ही, दुसरों के लिये करने में भी; परन्तु 'सर्वभूतहितेरताः' प्राणि मात्र के हित में जो रति है उसका आदि और अन्त नहीं होता है। क्रिया कुछ भी करो, उसका आदि और अन्त होगा, पर केवल दूसरों के हित की भावना है, उस का क्या आदि और अन्त होगा, बताओ? अनन्त होगा इसका फल! कल्याण होगा। इतनी विलक्षण बात है!।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। (गी. १८/४८)
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। (गी. १८/६०)
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (गी. १८/४६)

केवल अपने कर्मो से पूजन करना है भगवान् का। सबकी सेवा करनी है, हमारे लिये कुछ नहीं करना है। तो इसके लिये कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। इससे इसका कल्याण हो जायगा। इसमें एक मार्मिक बात है, आप ध्यान दें, गहरी बात है—यह स्वयं भगवान् का अंश है और भगवान् हैं सच्चिदानन्द, सत्-चित्

आनन्द स्वरूप। **ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।'** ध्यान देना उस चेतन का अंश है ये। यह चेतन है, शुद्ध है, सहज सुख राशि है। इसके लिये कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। फिर सुनो—ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख रासी।। तो करना क्या रहा इसके बाकी! सहज सुख राशि है। करने में जितना ये प्राप्त करना चाहेगा कि मैं प्राप्त कर लूंगा तो वह आदि और अन्त वाला होगा और जन्म-मरण देने वाला होगा। शुभ हो चाहे अशुभ हो, कोई काम हो। यह चेतन अमल सहज सुख रासी है और सत् स्वरूप है, उसमें कोई क्रिया नहीं है। स्वतः सिद्ध है, शान्त स्वरूप। इसके लिये करना है ही नहीं। करने की उस पर जिम्मेवारी नहीं है। करने की जिम्मवारी दो पर रहती हैं, एक तो वह जो कुछ कर सकता है तो करने की जिम्मवारी होती है। एक जिनके कुछ चाहिये तो जिम्मेवारी होती हैं।

ध्यान देना मार्मिक बात है हमारी! बहुत विलक्षण बात है! मैं विशेष प्रशंसा करता हूँ। आप तमाशा खेल नहीं समझें कि इसकी आदत है, यो ही कहता है! ऐसे ही नहीं कहता हूँ। ऐसी बात कहता हूँ कि मेरे को बहुत वर्ष सुनाते हुए हो गये। कितने वर्ष हो गये हैं। १९७९ विक्रम सम्वत् से अभी २०४० तक ६०—६१ वर्षों से सुनाता हूँ। ६१ वर्ष सुनाते हुए हो गये है मेरे को। यह इस वास्ते आपको कहता हूँ कि आप विशेष ध्यान दें। करना होता है दो आदमियों के लिये, एक जो कर सकता है, उसपर करने की जिम्मवारी होती है। माल पर जगात लगती है। इन्कम पर टेक्स लगता है। मुनाफा किया ही नहीं तो टेक्स किस बात का? तो ये जो स्वयं चेतन है, इसके लिये कहते है कि करना नहीं बनता है। यह ख्याल करने की बात है, स्वयं चेतन है। इसके द्वारा कुछ हो ही नहीं सकता, अकर्ता है यह। यह जब कुछ करेगा तो संसार के सम्बन्ध

से करेगा। मन है, बुद्धि है, अहंता है, इन्द्रियाँ है, शरीर है, प्राण है, प्रकृति का कोई न कोई कार्य यह साथ लेगा तब इसमें कर्ता पन आयेगा। प्रकृति के सम्बन्ध बिना इसमें स्वयं में कर्तापन नहीं है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
य पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। (गी. १३/२४)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहिमिति मन्यते।। (गी. ३/२७)

मूढ मानता है कि मैं कर्ता हूँ, पर कर्तृत्व स्वयं चेतन में नहीं है। जब कर्तृत्व नहीं है तो करने की जिम्मेवारी नहीं है इस पर, क्या समझे? कर सकता है, तब करने की जिम्मवारी होती है। जब स्वयं कुछ नहीं करता है तो खुदपर करनेकी जिम्मेवारी है ही नहीं। प्रकृति को साथ लेता है तो कर्तापन साथ आता है और करनेकी जिम्मेवारी भी आती है तो वो किसको लेकर केवल प्रकृति को लेकर करनेकी जिम्मेवारी हुई तो केवल प्रकृति की सिद्धि के लिये और प्राकृत संसार के लिये करना हुआ। अपने लिये करना हुआ ही नहीं। ख्याल किया कि नहीं? भाई! यह बहुत मार्मिक बात है।

सब धर्मों को छोड़कर तू मेरी शरण आजा तेरे को कुछ नहीं करना होगा तो इसके करना कुछ नहीं है; क्योंकि स्वयं में कर्तृत्व नहीं है। इस वास्ते करने की इस पर जम्मेवारी है ही नहीं। जिम्मेवारी तब होती है, जब यह प्रकृति की वस्तु को स्वीकार करता है। शरीर है, प्राण हैं, मन है, बुद्धि है, इन्द्रियाँ हैं, मैं-मैंपन है—इनको स्वीकार करता है, तब करने की जिम्मेवारी आती है; क्योंकि करने की सामग्री इसने स्वीकार करली, इस वास्ते करना होता है। वो सामग्री प्रकृति से मिली तो प्रकृति जन्य संसार के लिये ही करना है, अपने लिये करना है ही नहीं, क्योंकि अपने शुद्ध

स्वरूप में करना है नहीं। दो आदमियों के लिये करना
किनके लिये? जो कर सकता है, उसके लिये करने की
होती है और जो स्वयं चाहता है, उनके लिये करना पड़ता
चाहता है तो करो भई, काम करो। इसमें खुद में चाहना
क्योंकि यह पूर्ण है।

'नाभावो विद्यते सतः' सत् वस्तु का अभाव नहीं होता।
स्वरूप है तो इसमें अभाव बिना कामना कैसे होगी? काम
न कुछ कमी होने से ही होती है न? उस कमी की पूर्ति के लि
यह चेतन है, शुद्ध है, सहज सुख राशि है। चाहना तो उसमें
लिये होती है न? सहज सुख राशि, उसके सुख की चाहना
नहीं। इसे कुछ करना है ही नहीं। स्वरूप में करना नहीं है
चाहना नहीं है करना इसमें बन नहीं सकता। इस वास्ते
लिये कुछ नहीं करना है, केवल दुनिया के हित के लिये कर
क्योंकि दुनिया से शरीर मिला है। यह शरीर अपना नहीं है
जो दुनिया दीखती है, इस दुनियाँ का यह अंश है छोटासा।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अ
सरीरा। यह दुनिया का अंश है, दुनिया से पैदा हुआ है, दुनि
ही पला है, दुनिया में ही रहता है, इस वास्ते इसको जो कु
करना है, वह दुनिया के हित के लिये ही करना है और दुनि
अहित के लिये करे तो बहुत बड़ी गलती की बात है। केवल
रूप से दुनिया के लिये करना है। अपने लिये करना है ही
सबके हित के लिये करना है—क्योंकि सबसे चीज मिली है।
मिली हुई चीज को, शरीर को अपना कह देते हो—यह गल
अगर शरीर मेरा है तो पाँच भौतिक मात्रसृष्टि मेरी है। औ
भौतिक सृष्टि मेरी नहीं तो शरीर मेरा कैसे? शरीर की औ
की एक जाति है। आप अलग सिद्ध कर सकते हो क्या

शरीर संसार से अलग हैं? अलग है ही नहीं। स्थूल, सूक्ष्म, और कारण तीनों, शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण संसार के साथ एक है इनमें से एक शरीर को अपना मानना गलती है! उनके लिये ही मानकर उनकी सेवा करनी है।

जैसे कोई ऑफिस में जाता है, वहाँ बैठता है तो कुर्सी भी वहीं है, टेबल भी वहीं है, दवात भी वहीं, कलम भी वहीं, रजिस्टर भी वहीं है। वहाँ ही बैठकर वहाँ का काम कर देता है। खाली हाथ ही जाता है और खाली हाथ ही उठकर आ जाता है। ऐसे ही यहाँ आये हो, यहाँ सामग्री मिली है। केवल यहाँ के लिये काम कर देना है, उठकर फिर चल देना है। अपने लिये करना है ही नहीं। मात्र दुनिया के लिये करना है। भजन करो, जप करो, कीर्तन करो, ध्यान करो, समाधि करो। सब की सब ही करनी केवल दुनिया के हित के लिये 'सर्वभूतहिते रताः' प्राणि मात्र के हित में प्रीति होनी चाहिये भीतर से। इस लिये सब काम करना है। तो ये कर्मों का प्रवाह सब का सब संसार की तरफ हो जायगा। आपका चेतन आनन्द स्वरूप स्वतः सिद्ध रह जयगा ;क्योंकि कर्म का सब प्रवाह संसार की तरफ हुआ। अपनी तरफ कर्मों का प्रवाह करता है तब बन्धन होता है।

मुक्ति स्वतः सिद्ध है। देखो! एक सिद्धान्त बताता हूँ। दो बात है उसमें मुक्ति 'बद्ध' की होती है और मुक्ति 'मुक्त' की होती है। ध्यान देना! जो स्वरूप से बद्ध हो, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। समझे! स्वरूप से बद्ध की कैसे मुक्ति हो जायगी? वह बन्धन से अलग कैसे हो जायगा और जिसके बन्धन है हीनहीं तो मुक्ति कैसे होगी? तो दूसरी चीज को अपनी माना, यही बन्धन हुआ और दूसरी चीज को अपने नहीं माना तो मुक्ति हो गई। तो मुक्ति मुक्त पुरुष की होती है, और मुक्ति 'बद्ध' की होती है। 'बद्ध' वही होता है, जो दूजी चीज को ले लेता है। दूजी चीज को दे दी तो मुक्ति हो

गई। तो मुक्ति 'मुक्त' की भी नहीं होती है और 'बद्ध' की भी नहीं होती। वास्तवमें 'बद्ध' की होती है और 'मुक्त' की होती है। ठीक है न!

बन्धन क्या है? कि उस चीज को अपनी मान ली, और अपने लिये मान ली--यही है बन्धन! और अपनी नहीं, अपने लिये नहीं—यही है मुक्ति! भक्ति क्या है? भगवान् के सम्मुख न होना-अभक्त हुआ। भगवान् से विभक्त हुआ तो अभक्त हुआ और भगवान् के सन्मुख हुआ तो भक्ति हुई। तो भगवान् का हूँ और भगवान् का भजन करना है ऐसा भाव होते ही वह भक्त हो गया। भक्ति और मुक्ति के लिये करना कुछ नहीं है। संसार—शरीर मैं नहीं, संसार मेरा नहीं। मैं भगवान् का हूँ, भगवान् मेरे है। बेड़ा पार। संसार मैं नहीं, संसार मेरा नहीं यह हुई मुक्ति और भगवान् मेरे, मैं भगवान् का हूँ-यह है भक्ति। 'कृत कृत्यश्च भारत' कुछ करना बाकी नहीं रहा। सर्वथा पूर्ण का पूर्ण! कितनी श्रेष्ठ बात है! यह सार बात है।

नारायण! नारायण! नारायण!

श्री हरिः

कर्म, सेवा और पूजा

११-४-८३. भीनासर धोरा

परंतत्रता दीखती है तो अभिमान के कारण दीखती है। अभिमान नहीं रखना है। अपनेको कोई कहे, वैसा करने में बहुत आनन्द है। कहे जैसा करने में अपने पर कुछ जिम्मेवारी नहीं रहती। किञ्चिन्मात्र भी अपने पर आफत नहीं रहती। कहे ज्यों कर दें। बोलो! इसमें तनिक भी परतंत्रता मालूम देती है? परतंत्रता है ही नहीं इसमें। अभिमान के कारण परतंत्रता प्रतीत होती है। बड़ी स्वतंत्रता, बड़ी आजादी है इसमें। कह दिया, वैसा कर दिया, बस। अपने पर कोई जिम्मेवारी नहीं किञ्चिन्मात्र जिम्मेवारी नहीं। न पहले, न उस समय, न पीछे। 'तूने ऐसा कैसे कर दिया?' कि 'कह दिया, इसलिये कर दिया।' अभिमान के कारण यह बात समझ में नहीं आती। मौज बहुत है इसमें बोलो! इसमें शंका करो। अरे भाई! सीधी-सी बात है। कौन-सी गूढ़ पँक्ति है?

करना पड़ता है अभिमानी को। अभिमान आया है न भीतर, वह चुभता है, वह करने नहीं देता, बुरा लगता है। साईकिल को घुमा लें गोल-गोल तो घूम जावे, सीधी चलावे, खड़ी कर दो तो खड़ी हो जाय, उतर जाओ तो उतर जाओ, चढ़ जाओ तो चढ़ जाओ। आगे चलाकर पीछे चलाई फिर आगे चलाई और फिर पीछे चलाई। साईकिल कहती है क्या कि बार-बार ऐसा क्यों चलाते हो? कहती

है क्या? मर्जी है मालिक की चलाओ, मत चलाओ, गोल चलाओ, खड़ी करदो। जचे जैसे चलाओ, हमें क्या मतलब है? देखो, भारी तब लगता है, जब आज्ञा देने वाला है, उसमें आदर-बुद्धि नहीं है, पूज्य-बुद्धि नहीं है और पूज्य-बुद्धि होती तो वह कुछ कह दे तो इतनी खुशी होती है कि कह नहीं सकते। कभी कहते नहीं, मेरे को कह दिया, कितने आनंद की बात है! आप से आप यदि करते तो इतने फायदे की नहीं होती। उन्होंने आज्ञा दे दी। मेरे को कह दिया ओ हो! मैं तो बड़ा भागी हूँ ऐसे बहुत आनन्द आता है; परन्तु आज्ञा देने वाले में पूज्यबुद्धि आदर भाव होना चाहिए।

तीन तरह का काम है—एक काम करना है, एक सेवा करना है, एक पूजा करना है। काम तो नौकर भी कर देगा। जिसमें सेवक पन का भाव रहता है, वो सेवा करता है जबकि काम वह का वह ही है। उस समय वह सेवा हो जाती है और वह ही जब जिसकी आज्ञा का पालन करता है, उसपर बहुत पूज्य भाव रखता है, जैसे भगवद्‌बुद्धि है, भगवान् है साक्षात्, वे कहे कि तू ऐसा करदे तो कितना आनन्द आवे इसमें! वह पूजा होती है। वह ही काम पूजा हो जायगा। पिता की सेवा करने में भीतर में पूज्य भाव रहे कि मेरा अहोभाग्य है। जीवन सफल हो गया, समय सफल हो गया, वस्तु सफल हो गई कि इनकी सेवा में लग गई। तब वह पूजा हो जाती है। आदर ज्यादा होने से पूजा, कम आदर होने से सेवा और स्वार्थ के लिए तनख्वाह के लिए काम करता हो तो वह है काम—ये तीन भेद हो जाते हैं भाव के कारण से। जितना ही भाव त्याग का होता है, उतना ही श्रेष्ठ होता है। अपने द्वारा कामना का त्याग और उसमें पूज्य बुद्धि—ये दो चीजें है खास।

हमें तो गीता में सातवें और नवें अध्याय में दो बातें ही खास दीखती है। सातवें में तो **'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:'** कामना के कारण

और नवें में **'नतु मामाभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते'** (गी. ४/२८)मेरे को जानते नहीं, इस वास्ते पतन होता है। तो भगवद् बुद्धि हो और इधर स्वार्थ का त्याग हो तो उसकी मुक्ति हो गई, बंधन रहा ही नहीं। बंधन दो ही हैं--एक है पदार्थ और एक है क्रिया। एक तो काम करना और एक धन चाहना। इन दो में जिनकी आसक्ति होती है, जिनकी प्रियता होती है, वह पारमार्थिक रुचि नहीं कर सकता।

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसात्मिकाबुद्धिः समाधौ न विधीयते।। (गी. २/४४)

भोग और ऐश्वर्य में जिसकी आसक्ति है। भोगना और पदार्थों का सग्रंह करना दो ही बात बताई। **'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते'** तो क्रियाओं में और पदार्थों में नहीं फंसना। भोग जितना होता है, वह क्रिया जन्य होता है। भोग होता है, क्रिया होती है उसमें क्रिया-जन्य सुख है और संग्रह है, वह पदार्थ जन्य। पदार्थों का संग्रह कर लूँ। इस वास्ते भगवानने कहा--'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' ये वस्तु अर्पण करदो। और अगाड़ी **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्'**। क्रिया अर्पण कर दो। तो **'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'**।। दोनों बंधनों से छूट जायगा। क्रिया और पदार्थ, ये दो रूप ही हैं प्रकृति के। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा। क्रिया और पदार्थों के वश में रहेगा, वो प्रकृतिके वश में रहेगा, जन्मेगा और मरेगा। 'कारणं गुण संगोस्य सदसद्योनि जन्मसु (गी. १३/२२)। गुण सात्विक, राजस और तामस होते हैं। पदार्थ भी सात्विक, राजस और तामस होते हैं।

जो पदार्थों और क्रियाओंमें आसक्त है, वो फँस जायगा। तो इसमें न फँसे-- इसका उपाय है आज्ञा-पालन। 'आज्ञा सम न

सुसाहिब सेवा' आज्ञा पालन के समान कोई सेवा है ही नहीं। तो कहे ज्यों ही करें, अपने कुछ करना है ही नहीं। कृतकृत्य हैं अपने। कुछ करना नहीं, कुछ पाना नहीं, कुछ लेना नहीं, कुछ सम्बन्ध ही नहीं अपने। लाठी है उसे जचे वैसे चला दो। माला को घुमाओ, वैसे घुमा दो। माला, लाठी कुछ कहती नहीं कि यूं घूमाओ, यूं करो। तुम्हारी मर्जी है, जैसे करो। ऐसे बड़ा आनन्द है, शिष्य के लिये, पुत्र के लिये, स्त्री के लिये, नौकर के लिये, प्रजा के लिये। बहुत आनन्द है! अपना कुछ है ही नहीं। मालिक कहे, जैसे कर दिया। हरदम मस्त रहे, दुःख और संताप कुछ है ही नहीं। न अपनी कोई चीज है, न कोई क्रिया है, न अपने कुछ लेना है, न कुछ करना है। शास्त्रोंमें पतिव्रता की बड़ी महिमा गाई है। पतिव्रता की महिमा क्यों है?

पति कहे ज्यों करे, उसकी राजी में राजी रहे। अपना कुछ नहीं। अपने आप भी अपनी नहीं। वो तो पति की है बस उसके हाथ का खिलौना है। खिलाओ, पिलाओ, मर्जी आवे ज्यों चलाओ। ऐसे ही पुत्र होता है। पुत्र का, शिष्य का, पत्नि का बहुत जल्दी होता है अपनी हेंकड़ी छोड़ी कि हुआ कल्याण। अपनेपर काम आ जाय तो उसको तो यह विचार करना पड़ता है कि यह करें कि नहीं करें। यह ठीक है कि बेठीक है। पर उन्होंने कह दिया, अपने कर दिया क्यों कर दिया कि उन्होंने कह दिया इस वास्ते कर दिया। अपने क्या मतलब? बोलो, इसमें शंका क्या है? अरे! अभिमान भरा है भीतर में भाई! अभिमान भरा है, अभिमान! अभिमान, आलस्य, प्रमाद-ऐसे वृत्तियां भरी हैं। तामसी वृत्तियाँ कम होते ही सुगमता से कल्याण हो जाता है और ज्यादा होती है तो देरी लगती है शास्त्र विहित ही करना है, निषिद्ध थोडे ही करना है।

प्रश्नः--प्राणि-सेवा ही प्रभु-पूजा है, सेवा और पूजामें अंतर क्या है?

उत्तरः—हां जी। काम कर देना सेवा है। पूजन होता है चन्दन सं अगरबत्ती से, दीपक दिखाने से, आरती करने से, फूल चढाने से। यह पूजा होती है। इसको भी सेवा कह देते हैं, पर पूजा है यह। तो पूजा करने में जिसका हम पूजन करते हैं, उसको ऐसा कोई लाभ नहीं होता। पुष्प चढ़ा दिया तो क्या हुआ, चंदन चढ़ा दिया तो क्या हुआ? धूप-दीप कर दिया तो क्या मिल गया उसको? उसको सुख ज्यादा होता है सेवा करने से। पग-चंपी कर दी, स्नान करा दिया, कपड़े धो दिये। ऐसे यदि वह उनकी सेवा करे तो सुख ज्यादा होता है, पर सेवा-बुद्धि से भी विशेष अगर पूजा-बुद्धि से करता है तो स्वयं गद्‌गद् हो जाता है। मस्त हो जाता है वह, कहीं सेवा का काम मिले तो! सेवा में पूजा-बुद्धि हो जाती है तो निहाल हा जाता है। चरण-चांपी करता है एक तो और एक चरण छूता है। चरण छूने में, जिसके चरण छूता है, उसको कुछ नहीं मिलता। स्वयं अभिमान भले ही कर ले। और चरण-चाँपी करता है तो थकावट दूर होती है।

भाव जिसका चरण-छूने का है और पूजा-बूद्धि है तो चरण छूने मात्र से जैसे बिजली का करंट आता है, ऐसे ही उसके आनंद का एक करंट आता है। ऐसे चरण-चाँपी करना सेवा है और चरण छूना पूजा है। यह पूजा का और सेवा का भेद है। जितना अपने अभिमान का त्याग होता है, उसको सुख कैसे पहुँचे? उसको आराम कैसे पहुंचे? यह सेवा भाव होता हैं। वह पूजनीय, आदरणीय है, वह हमारा भोजन भी स्वीकार कर ले, चंदन भी स्वीकार ले, हमारा नमस्कार भी स्वीकार कर ले तो मैं निहाल हो जाऊँ! यह पूजा का भाव है।

जहां पूज्य भाव होता है, वहां भारी कैसे लगे? वो तो त्याग करता रहता है, हरदम ही विचार करता रहता है। किस तरह से

मेरेको सेवा मिल जाय। सेवा मिल जाय तो अपना अहोभाग्य समझता है कि बस निहाल हो गया आज तो! और ऐसा मालूम पड़ता है कि इनकी कृपा से ही यह हो रहा है। मेरे में यह भाव है न, यह इनकी कृपा है। काम भी इनकी कृपा से होता है। वह तो जीवन्मुक्त हो गया महाराज! इतना मस्त हो गया। उसकी तो सेवा-पूजा देखकर दूसरे आदमियों का कल्याण हो जाय। अगर उसका भाव यह है तो ऐसी बात है और भारी लगता है तो आलस्य है, प्रमाद है, अभिमान आदि दोष है।

यह बात है भैया! जितना ही दुःख होता है, आनंद नहीं आता है, उसमें अपने दोष है भीतर। अपने दोष न रहनेसे बहुत ही मौज होती है। जितना निर्दोष जीवन है, उतना उसके आनंद रहता है। इस बात को समझते नहीं, इस वास्ते लोग चोरी करते हैं, चालाकी कर लेते हैं, ठग लेते हैं, उससे खुद को दुःख होगा, शांति नहीं रह सकती, उसके प्रसन्नता नहीं रह सकती। परंतु पदार्थोंमें ज्यादा आसक्ति है, पदार्थों को मूल्यवान समझता है। इसवास्ते झूठ-कपट कर, धोखा दे राजी होता है। यह महान् पतन का रास्ता है। बहुत नुकसान कर लिया अपना! और जितना निर्दोष जीवन होता है, अपना शुद्ध जीवन होता है; आलस्य, प्रमाद झूठ, धोखेबाजी लोभ, क्रोध, कामना कुछ नहीं होती, उतना अंतःकरण निर्मल होता है, हल्का होता है, मस्ती रहती है, आनंद हरदम रहता है—'**कञ्चन खान खुली घट माहीं। रामदास के टोटो नाहीं**'।। भीतर से आंनद उमड़ता है। जैसे शीत-ज्वर चढ़े तो भतिर से ही ठंड लगती है। ऐसे भीतर से आनंद उठता है उसके,बाह्य -पदार्थों से सुख लेने की इच्छा नहीं होती। बाह्य -पदार्थों का सुख तो पराधीनता का है। पराधीनता तो पराधीनता ही है—'पराधीन सपनेहुँ सुख नहीं'। और भीतर में आवे जब-

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खन।
जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।।

भीतर से संतोष आवे। **'सन्तोषामृत तृप्तानां यत्सुखं शान्त चेतसाम्'** बहुत आनंद हो रहा है। कुछ चाहिए नहीं। हमारे कुछ नहीं चाहिए। जीयेंगे कैसे? जीना भी क्यों चाहिए। भगवान् को जिलाने की लाख गरज हो तो दे दो, तो जी जावेंगे। नहीं दे तो चलने दो, हमें जीने से मतलब नहीं। शरीर से मतलब नहीं, प्राणों से मतलब नहीं, जीने से मतलब नहीं। भगवान्, संत, महात्मा, संसार, सब उसकी सब गरज करें, उसको किसी की गरज नहीं। भगवान् की भी नहीं। भगवान् को गरज होती है ऐसे पुरुषों की। 'मैं हूँ भगतन को दास भगत मेरे मुकुट मणि' भक्त-भक्तिमान है भगवान्, भगत के भगत हैं भगवान्। भगवानको आनंद बहुत आता है इसमें। और मां को आनंद आता है न, बच्चे का पालन करने में, नहीं तो आप हम इतने बडे हो जावें क्या? वह प्रसन्नता से पालती है। आनंद आता है मां को, बच्चे टट्टी-पेशाब फिर देते हैं माँ पर।

एक सज्जन कह रहे थे। काशी के मदन मोहन जी महाराज थे। ब्याह कराने को गये कहीं। तो ब्याह में बढिया-बढिया साड़ियां पहन कर बहनें आईं। एक बहन के गोद में बालक था, दूसरी बहन पास में बैठी थी। तो गोदी में जो बालक था, वहीं टट्टी फिरने लगा। टट्टी की आवाज आई तो पास वाली बहन ने कहा, 'देख यह टट्टी जाता है।' तो वह कहती है 'हल्ला मत कर, इसके हाथ लगा देंगे, इसको पता लग जायगा तो टट्टी रुक जायगी इसकी, चुप रह।'

इसमें कोई सेवा पूजा हो रही है क्या इसकी? उसने कहा-'चुप रह'। रेश्मी साड़ी में टट्टी फिर रहा है और कहती है 'कि बोल मत, टट्टी रुक जायगी बालक की।' बोलो! इसमें कोई सेवा पूजा हो रही

है क्या? वो रोगी न हो जाय, यह चिन्ता है।

मां यशोदा धमकाती है कन्हैया को। 'क्यों लाला तूने माटी खायी' बता? यशोदा समझा रही है हाथ में लाठी लेकर। क्यों माटी खायी? 'दूध-दही ने कबहुं न नाटी। दूध-दही की तेरे को ना कही क्या कभी मैंने? तो माटी क्यों खाता है? धमकाती है। मतलब क्या है? मिट्टी खा लेगा तो पेट खराब हो जायगा। भीतर से रोग लग जायगा। ये दुःख पायगा। माँ के चिन्ता हो रही है। कन्हैया तो परवाह नहीं करता। **'नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्या भिशंसिनः'**। ये झूठ बोलते हैं सब। सच्चा तो मैं ही हूँ एक। कन्हैया ने कहा, 'मैया! व्रज में मेरे सामान भला आदमी कोई नहीं है।' मां हँसती है कि मैं जानती हूँ, तू है बड़ा! ठाकूर जी सच्ची कहते हैं, व्रज में उनके समान भला कौन है! माँ को विश्वास ही नहीं होवे। माँ कहती है कि मैं जानती हूँ तेरे को! मां का स्नेह बहुत है, अत्यधिक ज्यादा और लाला को इतनी मस्ती आती है महाराज! पूतना ने मारनेके लिये जहर पिलाया और उसको मुक्ति दे दी। दूध पिलाने वाली माता को क्या देंगे? जहर पिलाने वाली को मुक्ति दे दी। दूध पिलाने वाली मां को अपने आप को दे देते हैं और क्या देवें? वो चाहे रस्सी से बांध देवे, तो बंध जाते हैं। वहाँ दामोदर नाम हो जाता है। अब बांध दे, छोड़ दे—मर्जी आवे जैसे करे मैया। मां है, अपनी खुशी है जैसे वह करे। ऐसी बात है वो भी भीतर में भाव होता है न! भाव से भगवान् वश में हो जाते हैं। **'भावग्राही जनार्दनः'** तो जहां वो पूज्य भाव होता है, वहां भारी लगता है क्या? बोलो! अपने भाव की कमी है।

नारायण! ......नारायण! ....नारायण!